उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-102

भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 1

भारतीय संघवाद की प्रकृति, संघ–राज्य सम्बन्ध

इकाई – 16 3

भारतीय संघवाद एक वैचारिक विश्लेषण, विशेषताएं

इकाई – 17 15

भारत में राज्यों की राजनीति की प्रवृत्तियाँ

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक / परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीति विज्ञान विभाग 3/184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू. प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित – 2025

NFT-172

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड प्रयागराज

इकाई–16

भारतीय संघवाद एक वैचारिक विश्लेषण, विशेषताएं

इकाई की रुपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 संघवाद : सैद्धान्तिक अध्ययन

16.3 भारतीय संघ का विकास

16.4 भारतीय संघवाद के लक्षण

16.4.1 संघात्मक लक्षण

16.4.2 एकात्मक लक्षण

16.5 भारतीय संघवाद की विशेषताएं

16.6 भारत में संघीय गतिशीलता

16.7 सारांश

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारतीय संघवाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप :

- संघवाद के बारें में जान पायेंगे।
- भारतीय संघवाद के लक्षणों को समझ सकेंगे।
- भारतीय संघवाद की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- भारतीय संघवाद के विभिन्न चरणों में उसके स्वरुपों को समझ सकेगें।

16.1 प्रस्तावना

संघवाद लोकतन्त्र की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक शक्ति का विभाजन केन्द्र व राज्य सरकारों के मध्य होता है। इसके अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्य अपने निर्धारित क्षेत्र में एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघवाद के कई रुप देखने को मिलते हैं, जिनमें कुछ देशों में यह व्यवस्था अपने आदर्श

रुप में स्थापित है, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, स्वीटजरलैण्ड आदि प्रमुख हैं जबकि कुछ देशों में इस व्यवस्था को वहां की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करके अपनाया गया है, जिसमें भारत, कनाडा, आदि प्रमुख हैं। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारतीय परिस्थितियों के अनुसार संघीय ढाँचे को विकसित किया। इसमें संघवाद की आदर्श विशेषताओं के साथ–साथ कुछ ऐसे एकात्मक तत्वों को भी रखा गया है, जिससे विषम परिस्थितियों में इसको नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो सके। इसीलिए भारतीय संघवादी व्यवस्था को कई नामों से जाना जाता है।

16.2 संघवाद : सैद्धान्तिक अध्ययन

संघवाद के सम्बन्ध में विद्वानों ने कई विचार दिये हैं, जिनको तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (अ) शास्त्रीय संघवादी सिद्धान्त (ब) मूल सिद्धान्त (स) कार्यशीलता का सिद्धान्त। संघवाद का शास्त्रीय सिद्धान्त काफी लोकप्रिय, सुविदित एवं स्पष्ट है। इस विचारधारा का प्रतिपादन मुख्यतः ए.वी. डायसी, जेम्स ब्राइस, जॉन डब्ल्यू वर्गीस विचारकों ने किया है। ये सभी शास्त्रीय सिद्धान्ती सामान्यतः 4 बातों पर जोर देते हैं यथा (1) केन्द्र तथा क्षेत्रीय सरकारों को पूरी तरह पृथक्करण (2) सरकारों के मध्य किसी भी प्रकार की ओवरलैपिंग अथवा समन्वयन का निषेध (3) राज्यों के लिए सुस्पष्ट संवैधानिक स्वायत्ता तथा (4) इसको बनाये रखने के लिए एक स्वतन्त्र न्यायपालिका। यह सभी विचारक एक ही बात पर जोर देते हैं कि संघवाद दो प्रकार की सरकारों के मध्य पृथक्करण, स्वतन्त्रता, अस्तक्षेप तथा बराबरी एवं समकक्षता है।

संघवाद का मूल सिद्धान्त उन परिस्थितियों की बात करता है जो संघीय व्यवस्था की स्थापना के लिये उत्तरदायी होती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने संघवाद को परिस्थिति, कारकों एवं शक्तियों के रुप में परिभाषित किया है। इसके आधार पर मूल सिद्धान्त में संघवाद की उत्पत्ति से सम्बन्धित 3 सिद्धान्त मिलते हैं। प्रथम सिद्धान्त संघवाद का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हैं, जिसके मुख्य समर्थक विलियम एस. लिविंगस्टोन हैं। उनके अनुसार किसी समाज को संघीय विशेषता के कारण संघीय राजनीतिक प्रणाली की उत्पत्ति होती है। संघीय सरकार को एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली के रुप में समझा जाता है, जो समाज की संघीय विशेषताओं को अभिव्यक्त तथा सुरक्षित करती है। लिविंस्टोन के अनुसार ये विनियमिताएं इतनी अधिक अलगाववादी भी नहीं होनी चाहिए कि वे समाज को स्वतन्त्र समूहों में विभाजित कर दें और न वे इस तरह से कुचली जानी चाहिये कि एकात्मक सरकार की स्थापना का मार्ग खुल जाय। द्वितीय सिद्धान्त बहुकारकीय सिद्धान्त हैं। इसके लिये मुख्य समर्थक के0सी0 व्हेयर तथा कार्ल डायश हैं। ये दोनों विचारक संघ व्यवस्था की स्थापना के सम्बन्ध में आवश्यक तथा पर्याप्त मानी जा सकेने वाली दशाओं की विवेचना करते हैं। इनके अनुसार संघ की उत्पत्ति प्रायः सैनिक असुरक्षा एवं समान रक्षा व्यवस्था की आवश्यकता, विदेशी सत्ता से मुक्त होने की इच्छा, आर्थिक लाभ की आशा, भौगोलिक समीपता, राजनीतिक संस्थाओं की समानता, एक संधि, व्यवस्था के अन्तर्गत संघ के अधीन रहने के अनुभव आदि से उत्पन्न होती है। संघवाद का तृतीय सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त हैं जिसके मुख्य समर्थक विलियम एच0 रिकर हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार संघवाद की विचारधारा आवश्यक रुप से राजनैतिक समाधान है, जिसके अंदर राजनैतिक सौदेवाजी निहित है। विस्तृत होते समाजों में सरकार की समस्या का समाधान करने का यह एक उपाय है।

संघवाद का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त कार्यशीलता का सिद्धान्त है, जिसके प्रमुख सतर्थक एलाजर तथा एम0जे0 वाइल हैं। यह सिद्धान्त दोहरे संघवाद के सिद्धान्त का परित्याग करता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार केन्द्र और राज्य के कार्यों व शक्तियों के संविधानिक विभाजन होने के बावजूद भी संघीय व्यवस्था में दोंनों स्तर पर सरकारें एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होती हैं। उनमें से प्रत्येक को जो कार्य सौंपा जाता है, उसे पूरा करने के लिये व्यवहार में उनकी भागीदारी, पारस्परिक क्रिया तथा एक दूसरे के सहयोग पर जोर दिया जाने लगता है। इस प्रकार अन्तः निर्भरता तथा सहयोग को यह सिद्धान्त संघीय व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण मानते हैं।

उपर्युक्त सभी विचारों का उदय विकास के विभिन्न अवसरों पर हुआ है तथा इन्होंने विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों को सम्बोधित किया। वर्तमान समय में किसी भी देश की संघीय व्यवस्था के गुण अथवा दोषों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन सभी सिद्धान्तों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाये।

16.3 भारतीय संघ का विकास

भारतीय संघीय व्यवस्था अमेरिकी संघीय व्यवस्था के बनने के तरीके से बिलकुल भिन्न है। अमेरिकी संघ के निर्माण में राज्यों ने स्वेच्छा से समझौता कर एक संघीय राज्य का निर्माण किया जबकि भारत में संघ के निर्माण में राज्यों को शक्ति के हस्तान्तरण का प्रश्न था। सन् 1935 के अधिनियम तक देश की सरकार एक केन्द्रीकृत सरकार थी, परन्तु 1935 के अधिनियम के द्वारा एक संघीय ढांचे के अन्तर्गत स्वायत्त प्रान्तों का प्रावधान किया गया था। भारत में संघ के निर्माण की बात मूलतः 20वीं शताब्दी में होती है। सन् 1923 में भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य सर फ्रेड्रिक ह्वाइट ने भारत के लिए संघीय शासन की सिफारिश की तथा सर मलकम हैली ने भरतीय संविधानिक समस्या का हल संघीय शासन बताया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भी संघ स्थापित करने की सिफारिश की गयी थी परन्तु उस समय तक भारतीय राष्ट्रीय नेता संघीय व्यवस्था को शंका की दृष्टि से देखते थे। 1930 में लंदन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में पर्याप्त विचार विमर्श के बाद यह निश्चय लिया गया कि भारत में एक संघात्मक शासन की स्थापना होनी चाहिए। संघ शासन का समर्थन करते हुए बीकानेर के महाराजा ने कहा था कि भारत के लिये एकात्मक राज्य की स्थापना असम्भव है। मुस्लिमों को भी संघ योजना उस समय सर्वोत्तम प्रतीत हुयी थी, क्योंकि इस समय पाकिस्तान की उत्पत्ति भविष्य के गर्भ में ही छिपी थी। फलतः सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वायत्त शासन के साथ–साथ केन्द्र में एक संघ का प्रावधान किया गया था। उक्त अधिनियम का वह अंश, जिसके द्वारा संघ की स्थापना होती, कार्यान्वित नहीं किया जा सका। संविधान निर्मात्री सभा ने इसी व्यवस्था को आगे बढ़ाना उचित समझा। डा0 बी0एन0 राव ने भारत के संविधान की जो पहली रुपरेखा तैयार की थी, उसमें स्पष्टतया यह लिखा था कि, ''भारत एक संघात्मक राज्य होगा'' परन्तु बाद में प्रारुप समिति ने कहा कि, ''भारत राज्यों का संघ होगा।'' स्वतन्त्र. भारत का संविधान बनाने के लिये जिस समय संविधान सभा ने कार्य करना शुरु किया, उस समय देश में आंतरिक और बाह्य दोनों स्तर पर अनिश्चितता और अस्थिर परिस्थितियां विद्यमान थीं। इन परिस्थितियों में एक मजबूत केन्द्रीय सरकार ही स्थितियों पर नियंत्रण कर सकती थी। इसलिए संविधान निर्माताओं ने एक ऐसी संघीय व्यवस्था का निर्माण किया, जिसमें एकात्मक प्रणाली का भी सम्मिश्रण है।

16.4 भारतीय संघवाद के लक्षण

संविधान निर्माताओं की मंशा भारत में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करना थी, लेकिन संविधान में कहीं पर भी ''संघ'' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, वरन् ''संघ'' के स्थान पर ''राज्यों का संघ'' शब्द का प्रयोग किया गया है। भारतीय संघवाद के अन्तर्गत जहां संघवाद के मान्य लक्षण पाये जाते हैं वहीं एकात्मक राज्य के लक्षणों का भी प्रभुत्व दिखता है। इसीलिए संविधान शास्त्रियों में यह एक विवाद का विषय बन गया है कि भारतीय संविधान संघात्मक है या एकात्मक।

16.4.1 संघात्मक लक्षण

संघीय प्रणाली की 4 प्रमुख विशेषताएं हैं और वे सभी भारतीय संघीय व्यवस्था में पायी जाती हैं। संघीय प्रणाली की प्रथम विशेषता संविधान की सर्वोच्चता होती है। संघीय राज्य अपने अस्तित्व के लिये मूल रुप से संविधान का ऋणी होता है। केन्द्र व राज्य की सभी शक्तियां संविधान की उपज व उसी के नियंत्रण में होती हैं। भारतीय संविधान में संघात्मक प्रणाली की प्रथम विशेषता पायी जाती है। भारतीय संविधान सारे देश की सर्वोच्च विधि है। हमारे संविधान के उपबन्ध केन्द्र और राज्य पर बाध्यकारी हैं। दोनों अपनी शक्तियों को संविधान से प्राप्त करते हैं, दोनों एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकते, दोनों के लिये संविधान द्वारा लगाये गये मर्यादाओं का पालन करना अनिवार्य है और जब कभी इसका कोई उल्लंघन करता है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

संघीय व्यवस्था की दूसरी विशेषता केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन है। अन्य संघीय संविधानों की भांति भारतीय संविधान भी केन्द्र और राज्यों में शक्तियों के विभाजन की व्यवस्था करता है। भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में तीन सूचियों का वर्णन है, जिसमें केन्द्र और राज्यों के विधान मण्डलों के कार्य क्षेत्रों को परिभाषित किया गया है। (संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची)। समवर्ती सूची के विषयों पर संघ एवं राज्यों दोनों को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन यदि दोनों कानूनों के बीच कोई विरोध है तो केंद्र सरकार द्वारा बनाया गया कानून ही मान्य होगा। जिन विषयों का उल्लेख इन तीनों सूचियों में नही हैं, उन पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र के पास है अर्थात अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के पास है।

संघीय प्रणाली की तीसरी विशेषता एक स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका है जो संविधान के संरक्षक के रुप में कार्य करती है। इसका कार्य संविधान की व्याख्या करना और केन्द्र व राज्यों के मध्य संविधान के किसी विषय पर विवाद होने पर एक निर्णायक के रुप में कार्य करना है। भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय के रुप में एक स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायालय की स्थापना करता है। इसको केन्द्र व राज्यों तथा राज्यों के बीच विवादों को निपटाने का मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। इसे भारतीय संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है तथा इसका निर्णय अंतिम होता है।

संघीय व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता लिखित एवं कठोर संविधान है। भारतीय संविधान विश्व का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। इसके विस्तृत होने का मूल कारण भारतीय संघ के राज्यों के पृथक संविधान न होना तथा उन बातों का

इसमें विस्तृत उल्लेख किया जाना है, जिन्हें अन्य संघीय संविधानों में अभिसमयों पर छोड़ दिया गया है।

भारतीय संविधान अमेरिकी संविधान की भांति कठोर नहीं हैं, लेकिन इसमें संवैधानिक कानून और साधारण कानून मे अंतर किया गया है। इसमें संवैधानिक कानून के निर्माण और संशोधन की प्रक्रिया साधारण कानूनों की प्रक्रिया से भिन्न एवं जटिल है।

उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की संघीय व्यवस्था संघात्मक शासन की उन सभी मूलभूत विशेषताओं को पूरा करती है जो संघात्मक व्यवस्था के लिये आवश्यक होती हैं।

16.4.2 एकात्मक लक्षण

भारतीय संविधान में उपर्युक्त वर्णित संघात्मक लक्षणों के साथ संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान भी हैं जो हमारी संघीय प्रणाली को एकात्मक रुप प्रदान करते हैं। भारत में केन्द्र को राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। संसद संघ सूची के विषयों के साथ ही समवर्ती सूची में दिये गये विषयों पर भी कानून बना सकती है। यद्यपि समवर्ती सूची पर राज्य विधानमण्डलों को भी कानून बनाने का अधिकार है परन्तु समवर्ती सूची में दिये गये किसी विषय पर राज्य व केन्द्र द्वारा बनाये गए किसी कानून में विरोध होता है तो संसद द्वारा बनाया गया कानून लागू होता है। इस तरह संसद का नियंत्रण 144 विषयों पर रहता है। अविशिष्ट शक्तियां भी भारतीय संविधान में अमेरिका, आस्ट्रेलिया के संविधानों के विपरीत केन्द्र के पास हैं जो केन्द्र को राज्यों से अधिक शक्तिशाली बना देता है। आपातकाल में केन्द्र की शक्तियां अत्यधिक बढ़ जाती हैं। आपातकाल में भारतीय संघीय व्यवस्था एकात्मक रुप ग्रहण कर लेती है। अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा के समय संसद को राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने और राज्यों पर सभी प्रकार के प्रशासकीय नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। अनुच्छेद 356 के द्वारा किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन स्थापित किया जा सकता है जिसके फलस्वरुप राज्य की लोकतांत्रिक व्यवस्था भंग हो जाती है, इसी प्रकार अनुच्छेद 360 के तहत राष्ट्रपति वित्तीय आपात की घोषणा करके राज्यों के वित्तीय क्षेत्र में संसद का नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 249 एवं 253 के तहत भी संसद को राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है।

जहां अमेरिका में राज्यों की सहमति के बिना कांग्रेस किसी राज्य की क्षेत्र या सीमाओं में परिवर्तन नहीं कर सकती, वहां भारतीय संसद राष्ट्रपति की सिफारिश पर अनुच्छेद तीन के तहत राज्यों का पुनर्गठन कर सकती है, उनके नाम बदल सकती है, उनके क्षेत्र को कम या अधिक कर सकती हैं, दो राज्यों को मिला सकती है या एक राज्य को दो राज्यों में बांट सकती है।

केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व का इस प्रकार विभाजन किया गया है कि राज्यों को सामान्यतः अपने आर्थिक कार्यों के लिये केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। यह बात अलग है कि संविधान में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि किसी कर का विभाजन किस प्रकार किया जायेगा, फिर भी राज्यों के अंश का अनुपात न केवल उनकी आवश्यकताओं से कम है बल्कि इसके निर्धारण का अंतिम अधिकार राष्ट्रपति के पास है।

भारत में संविधान संशोधन की प्रक्रिया में भी केन्द्र की अपेक्षा राज्यों को कम अधिकार प्राप्त है। केवल संविधान की संरचना से सम्बन्धित संशोधन के लिये ही आधे से अधिक राज्यों की पुष्टि आवश्यक है। भारतीय संविधान में संशोधन का प्रस्ताव राज्य नहीं रख सकते। इसका अधिकार केवल केन्द्र को है। संघीय प्रणाली में केन्द्रीय संसद के उच्च सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। भारत में राज्य सभा में राज्यों की जनसंख्या के आधार पर सदस्यों की संख्या का निर्धारण किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य संघीय व्यवस्थाओं से अलग इस सदन में राष्ट्रपति को 12 सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त है।

भारतीय संविधान में इकहरी नागरिकता अखिल भारतीय सेवायें, एकीकृत न्याय व्यवस्था, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति राज्यों का अलग संविधान न होना आदि एकात्मक व्यवस्था के लक्षण हैं।

भारतीय संविधान के इन प्रावधानों से स्पष्ट है कि भारत की संघात्मक प्रणाली में एकात्मक प्रणाली के भी लक्षण विद्यमान हैं। इसी कारण कुछ रानीतिशास्त्रियों ने भारतीय संघात्मक व्यवस्था को अर्द्धसंघात्मक कहा है।

भारतीय संविधान के उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि न यह शुद्ध रुप से संघात्मक है और न ही एकात्मक, बल्कि यह इन दोनों का मिश्रण है। सामान्य परिस्थितियों में यह एक संघात्मक व्यवस्था के रुप में कार्य करता है, परन्तु जब देश में या राज्य में कुछ विषम परिस्थितियां आती हैं तो इसको एकात्मक रुप प्रदान किया जा सकता है। प्रारुप समिति के अध्यक्ष डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि, ''भारतीय संविधान में संघवाद के कठोर नमूने की अवहेलना की गयी है, जिस पर अमरीकी संविधान आधारित है और यह समय तथा परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार एकात्मक एवं संघात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। यह एक ऐसे विकासशील देश की आवश्यकताओं को पूरा करता है, जो निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया में है।''

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी–i) नीचे दिये गये स्थानों में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1. भारतीय संघीय व्यवस्था के संघात्मक लक्षणों को लिखिए।

....

....

....

....

2. भारतीय संविधान में कुल कितनी सूचियां हैं?

क. दो   ख. तीन

ग. चार   घ. पांच

3. भारतीय संविधान में अवशिष्ट शक्तियां किसे प्रदान की गयी है?

क. केन्द्र को   ख. राज्य को

ग. केन्द्र और राज्य दोनों को   घ. राष्ट्रपति को

16.5 भारतीय संघवाद की विशेषताएं

भारतीय संघवाद एक ऐसी संघीय व्यवस्था है जिस पर अलग–अलग विचारकों का अलग–अलग मत है। कुछ न्यायविद व राजनीतिशास्त्री इसे संघात्मक, कुछ इसे एकात्मक तथा कुछ विचारक मध्य मार्ग का अनुसरण करते हुये अर्द्धसंघात्मक कहते हैं। सर आइवर जोनिंग्स, डा0 राजेन्द्र प्रसाद, पं0 जवाहर लाल नेहरु, एच0 एपलबी के अनुसार हमारा संविधान संघात्मक तो है लेकिन इसमें केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया गया है। परन्तु कुछ विचारकों जैसे के0 एम0 मुंशी, पी0एस0 देशमुख, न्यायमूर्ति डा0 गजेन्द्रगडकर का मानना है कि भारत का संविधान एकात्मक है, लेकिन इसमें कुछ संघात्मक संविधानों की विशेषताएं भी पायी जाती हैं जबकि के0सी0 ह्वेयर के अनुसार हमारा संविधान अर्द्धसंघात्मक है। भारतीय संघवाद एक ऐसी संघवादी व्यवस्था है, जिसका अपना एक स्वरुप है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया, जो देश की सभी परिस्थितियों में सुचारु रुप से कार्य कर सके। इसलिए भारतीय संघ व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो अपने आप में अन्य संघीय व्यवस्थाओं से अलग तथा विलक्षण है। इसकी विशेषताएं निम्नवत हैं।

प्रथमतः भारतीय संघीय व्यवस्था औपचारिक रुप से एक संघीय व्यवस्था है अर्थात इसमें दोहरे शासन की व्यवस्था है। केन्द्र पर संघ व परिधि पर राज्यों की सरकारें हैं तथा दोनों को संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करनेका अधिकार है। यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 3 एवं 4 राज्य की बिना स्वीकृति के संसद को किसी राज्य या राज्यों के नाम व सीमा को एकतरफा कार्यवाही द्वारा परिवर्तित करने का अधिकार देते हैं। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त संभावना भारतीय संघ की सभी इकाईयों के लिए सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के 1973 के केशवानन्द भारती वाद के निर्णय के अनुसार संसद संविधान की आधारभूत संरचना में परिवर्तन नहीं कर सकती, जिसका एक तत्व संघात्मक व्यवस्था भी है। संविधान सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने उस समय यह परिकल्पना की थी कि भारतीय संघ अविध्वंसात्मक व अविभाजनीय है, अर्थात संकटकालीन परिस्थितियों के अलावा केन्द्र व राज्य अपने–अपने क्षेत्रों में सत्ता के पूर्ण स्वामी होंगे। द्वितीय भारतीय संघीय व्यवस्था मूलतः क्षैतिज है जिसका झुकाव एक सशक्त केन्द्र के प्रति है। संविधान के अन्तर्गत केन्द्र और राज्य के मध्य सभी क्षेत्रों में शक्तियों का बंटवारा किया गया, परन्तु केन्द्र की स्थिति राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं इसका कारण संविधान निर्माताओं का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना था जो राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित कर सके, न कि किसी संघात्मक व्यवस्था की शास्त्रीय धारणा को विकसित करना। वस्तुतः हमारे संविधान के एकात्मक तत्व संवैधानिक यांत्रिकी के परिचालन में कुशलता व स्थिरता लाने वाले अंतिम तत्व हैं।

तीसरी मुख्य विशेषता भारतीय संघ का लचीलापन है। संकटकाल में इसको बिना किसी संवैधानिक संशोधन के एकात्मक स्वरुप में बदला जा सकता है। राष्ट्रपति की उद्घोषणा ही देश की स्वतन्त्रता और प्रदेश की अखण्डता को किसी खतरे से बचाने के लिये संविधान की संरचना को बदल सकती है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया इस प्रकार की है कि जिसमें राज्यों की भूमिका केवल संघीय संरचना से सम्बन्धित विषयों तक सीमित है। भारतीय संविधान के अधिकांश उपबन्ध केवल संसद द्वारा संशोधित किए जा सकते हैं। कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह

राज्यों के मध्य शक्ति वितरण से सम्बन्धित संवैधानिक उपबन्धों में परिवर्तन कर सकता है।

भारतीय संघवाद की चौथी विशेषता इसका सहकारी स्वरुप है। यह सामान्य हितों के मामलों में केन्द्र और राज्यों के मध्य सहयोग की अपेक्षा करता है। भारतीय व्यवस्था में कई ऐसी संस्थायें हैं जो इसके सहकारी स्वरुप का समर्थन करती हैं, जैसे क्षेत्रीय परिषदें, अन्तर्राज्यीय परिषदें और राष्ट्रीय विकास परिषद आदि अर्थात भारतीय संघवाद, शक्तियों के विभाजन के साथ–साथ केन्द्र और राज्य के अन्तःसम्बन्ध का समर्थन करता है।

भारतीय संघीय व्यवस्था के उपर्युक्त लक्षण इस तथ्य को दर्शाते हैं कि यद्यपि भारतीय संविधान में कहीं भी ''संघ राज्य'' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है वरन् उनके स्थान पर ''राज्यों का संघ'' प्रयोग किया गया है, तथापि हमारी संविधानिक व्यवस्था में संघीय व्यवस्था के उन सभी तत्वों को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार रखा गया है, जो एक संघीय व्यवस्था के लिये आवश्यक होते हैं।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणी i)- नीचे दिये गये प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर लिखिये।

1. भारतीय संघवाद के लचीलेपन के लक्षणों को लिखिये।

....

....

....

....

2. संविधान के आधार भूत ढांचे का सिद्धान्त सर्वोच्च न्यायालय ने किस वाद में दिया।

क. गोलकनाथ केस ख. केशवानन्द भारती केस

ग. मेनका गांधी केस घ. मिनर्वा मिल्स केस

16.6 भारतीय संघवाद के केन्द्रीकरण का व्यवहारिक पक्ष

पिछले पृष्ठों में हमने भारतीय संघात्मक व्यवस्था के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन किया। अब इसके व्यवहारिक पहलू पर दृष्टिपात करना अधिक उपयुक्त होगा। केन्द्र सरकार के अधिक शक्तिशाली होने के पीछे मात्र संवैधानिक प्रावधान ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि केन्द्र सरकार के द्वारा संवैधानिक प्रावधानों का अपने हितों के अनुसार प्रयोग ने इसको अधिक शक्तिशाली बनाया है। भूतपूर्व केन्द्रीय उद्योग मंत्री एम0एम0 शाह के अनुसार केन्द्र एक स्टीमरोलर बनाता जा रहा है, जिसे देखकर राज्यों की स्थिति दयनीय प्रतीत होती है। संविधान के कई प्रावधानों को केन्द्र सरकार ने अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग किया है। जिसने संघ की इकाईयों को नगर पालिका जैसी संस्था में बदल दिया है। उदाहरण स्वरुप केन्द्र ने भारत के राजनैतिक मानचित्र को अपने ढंग से बार–बार परिवर्तित किया है। जिसमें सामान्यतया राज्यों की भूमिका नगण्य रही है, जैसे नये राज्यों का निर्माण,

राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन तथा पाकिस्तान को बेरुबारी क्षेत्र देने से सम्बन्धित निर्णय आदि प्रमुख है।

केन्द्र ने संवैधानिक व्यवस्था भंग होने के नाम पर अनुच्छेद 356 का राज्यपालों के माध्यम से गलत प्रयोग किया है। संविधान निर्माताओं की आशा थी कि अनुच्छेद 356 प्रायः मृत रहेगा और इसका प्रयोग तभी होगा जब कोई विकल्प न बचा हो और राज्य के शासन को संविधान के अनुसार चलाना संभव न हो। परन्तु सरकारिया आयोग की रिपोर्ट के अनुसार केन्द्र सरकार ने इसका प्रयोग बड़े ही मनमाने ढंग से किया है। इसका प्रयोग बिना आवश्यकता और बिना परिस्थिति के किया गया है। अनुच्छेद 356 का प्रयोग केन्द्र के द्वारा बहुत ही अलोकतांत्रिक तरीके से तथा क्षेत्रीय दलों की राज्य सरकारों को गिराने के लिये किया गया। केन्द्र में सत्तारुढ़ सभी दलों की सरकारों ने दलीय हितों की पूर्ति हेतु इस अनुच्छेद का दुरुपयोग किया। 1967 के निर्वाचन के पश्चात राज्यों में अनुच्छेद 356 के तहत सरकारों को गिराना केन्द्र के लिये खेल सा हो गया। इसी कारण सरकारिया आयोग ने अनुच्छेद 356 के कम से कम प्रयोग करने पर बल दिया और वह भी तब जब अन्य कोई विकल्प न रह गया हो।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली में केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने में नियोजन की प्रमुख भूमिका रही है, जिसने केन्द्र को अत्यधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। योजना आयोग की स्थापना जिस ढंग से की गयी है उसने भारतीय संघीय व्यवस्था को प्रभावित किया है। इसने समूचे राष्ट्र पर केन्द्र की पकड़ को अत्यधिक बढ़ा दिया है। केन्द्र सरकार द्वारा इसकी स्थापना केन्द्र के प्रभुत्व को अभिव्यक्त करती है। इसकी स्थापना के समय यह आशा व्यक्त की गयी थी कि यह संघ और राज्यों में एक परामर्शदात्री एवं समन्वयकारी संस्था के रुप में कार्य करेगा, परन्तु इसने समय पाकर एक समानान्तर सरकार का रुप ग्रहण कर लिया है। इसने वित्त आयोग जैसी संवैधानिक संस्थाओं के कार्यों का भी अतिक्रमण किया है। इसीलिये इसे सुपर कैबिनेट की संज्ञा दी जाती है। इस आयोग के संगठन पर संघ सरकार का वर्चस्व है, जिसने भारतीय संघीय व्यवस्था में केन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान मोदी सरकार ने नियोजन आयोग के स्थान पर निती आयोग का निर्माण किया है।

भारत में संघात्मक व्यवस्था के केन्द्रीकरण में भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात लगभग दो दशकों तक केन्द्र तथा राज्यों में कांग्रेस दल का शासन रहा जिसने संघीय प्रणाली को एक विशेष मोड़ देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। केन्द्र और राज्यों में एक ही दल की सरकार होने के कारण दल का केन्द्रीय नेतृत्व ही निर्वाचनों में उम्मीदवारों के चयन, राज्य मंत्रालयों के निर्माण व विघटन, मुख्यमंत्री का निर्वाचन व निष्कासन आदि का निर्धारण करने लगा। जिन विषयों को करने में प्रान्तीय सरकारों को स्वायत्त और स्वतन्त्र होना चाहिए उन पर भी केन्द्र का नियंत्रण हो गया। केन्द्रीय सरकार की नीतियों को उसी दल की राज्य सरकारों ने दलीय नीतियों के आधार पर राज्यों में स्वीकार कर लिया। अस्सी के दशक में राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारों के निर्माण के साथ इस व्यवस्था में परिवर्तन आया। क्षेत्रीय शक्तियों ने संघ–राज्य सम्बन्धों को लेकर कई समस्याएं उठायीं। भारतीय मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने अपने घोषणा पत्र में यह आरोप लगाया कि ''यह संविधान तो नाम में ही संघीय है, लेकिन वस्तुतः व्यवहार में एकात्मक है।'' अस्सी के दशक के पश्चात भी

केन्द्र व राज्य दोनों स्तरों पर समान दल की सरकार होने पर उपर्युक्त प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के संघात्मक स्वरुप को केन्द्रीकृत व्यवस्था में परिवर्तित करने में संवैधानिक प्रावधानों के साथ ही इन प्रावधानों का केन्द्र की सरकार के द्वारा अपनी इच्छानुसार प्रयोग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संविधान में जिन प्रावधानों का वर्णन विषम परिस्थितियों के लिये किया गया था, केन्द्र सरकार ने उन प्रावधानों का प्रयोग केन्द्र को शक्तिशाली बनाने तथा अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिये किया है। इसलिये भारतीय संघात्मक व्यवस्था व्यवहारिक रुप में केन्द्राभिमुख हो गयी है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी i) नीचे दिये गये स्थानों में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर लिखिये।

1. भारतीय संघवाद के केन्द्रीकरण के व्यवहारिक कारण लिखिये।

....

....

....

....

2. अनुच्छेद 356 सम्बन्धित है?

क. राष्ट्रीय आपातकाल ख. वित्तीय आपातकाल

ग. राष्ट्रपति शासन घ. आंतरिक विद्रोह

16.7 सारांश

संघवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक शक्ति का विभाजन केन्द्रीय व स्थानीय सरकारों के मध्य होता है तथा दोनों अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। संघवाद के सम्बन्ध में अलग–अलग विचारकों ने अलग–अलग सिद्धान्त दिये हैं, जिनको मुख्यतः तीन सिद्धान्तों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है। भारत में संघीय व्यवस्था का विकास स्वतन्त्रतापूर्व से देखने को मिलता है। 1935 के अधिनियम की भारत में इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका रही। स्वतन्त्रता के पश्चात संविधान सभा ने भारत में संघीय व्यवस्था के आधार पर संविधान का निर्माण किया, जिसमें केन्द्र और राज्य दोनों को अलग–अलग शक्तियां प्रदान की गयीं। भारतीय संघीय व्यवस्था में संघवाद के वे सभी लक्षण विद्यमान हैं, जो संघीय व्यवस्था की स्थापना के लिये आवश्यक हैं, किन्तु इसके अन्तर्गत कुछ ऐसे तत्व भी विद्यमान हैं जो एकात्मक व्यवस्था में पाये जाते हैं। इसीलिये भारतीय संघवाद पर विभिन्न विचारकों का अलग–अलग मत है। कुछ ने इसको एकात्मक, कुछ ने संघात्मक तथा कुछ विचारकों ने इसको अर्द्धसंघीय व्यवस्था कहा है। भारतीय संघवाद के केन्द्रीकृत

स्वरुप के पीछे संविधानिक प्रावधानों के साथ व्यवहारिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। स्वतन्त्रता के समय कांग्रेस का पूरे देश पर प्रभुत्व, योजना आयोग जैसे संगठनों, संवैधानिक उपबन्धों का राजनीतिक हितों के लिये प्रयोग आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दु हैं, जिन्होंने भारतीय संघीय व्यवस्था को केन्द्रीकृत व्यवस्था के रुप में विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारत में केन्द्रीय सरकार राज्यों की तुलना में अत्यधिक शक्तिशाली अवश्य है, किन्तु इससे संविधान के संघात्मक स्वरुप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यह एक संघीय व्यवस्था है जिसमें एकात्मकता का प्रभाव समय और परिस्थितियों के कारण ज्यादा रहा है।

16.8. कुछ उपयोगी पुस्तकें

खान रशीदुद्दीन (संपा.), 1997, रिथिकिंग इडियन फेडरलिज्म, इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवास्ड स्टडीज, शिमला।

सिंह एम0 पी0, 2011, इण्डियन फेडरलिज्म एन इन्ट्रोडक्सन, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली।

सिवाच, जे0आर0, 1992, भारत की राजनीतिक व्यवस्था, हरियाणा साहित्य अकादमी।

16.9. बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. देखें 16.4.1
2. ख तीन
3. क केन्द्र को

बोध प्रश्न–2

1. देखें 16.5
2. ख केशवानन्द भारती केस

बोध प्रश्न–3

1. देखें 16.6
2. ग राष्ट्रपति शासन।

इकाई–17

भारत में राज्यों की राजनीति की प्रवृत्तियाँ

इकाई की रुपरेखा

17.0 **उद्देश्य**

17.1 **प्रस्तावना**

17.2 **राज्य राजनीति का विकास**

17.2.1 प्रथम कालः 1947 से 1970 तक

17.2.2 द्वितीय कालः 1970 से 1980 तक

17.2.3 तृतीय काल : 1980 से 1995 तक

17.2.4 चतुर्थ काल 1996 से वर्तमान तक

17.3 **राज्य राजनीति के निर्धारक तत्व**

17.4 **राज्य राजनीति की प्रवृत्तियाँ**

17.5 **सारांश**

17.6 **शब्दावली**

17.7 **कुछ उपयोगी पुस्तकें**

17.8 **बोध प्रश्नों के उत्तर**

17.0 उद्देश्य

भारतीय संघ के विभिन्न घटकों में होने वाली राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन को राज्यों की राजनीति कहते हैं। यद्यपि भारतीय संघ तथा राज्यों में एक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था है, किन्तु दोनों में व्यावहारिक स्तर पर राजनीतिक भिन्नता देखने को मिलती है। इस इकाई में भारत में राज्यीय राजनीति को समझाने का प्रयास किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आपः–

- भारत में राज्यों की राजनीति का अर्थ एवं महत्व को समझ सकेगें ।
- भारत में राज्यीय राजनीति के विकास को जान पायेंगे।
- राज्यीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों को जान पायेंगे।
- राज्य राजनीति की प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

भारतीय संघ के सभी राज्यों की प्रकृति अलग है। उनके निर्माण, गठन ओर उत्पत्ति का इतिहास भिन्न–भिन्न है। कुछ राज्यों का उदय बिटिश प्रान्तों से तथा कुछ राज्य देशी रियासतों के एकीकरण से अस्तित्व में आये। कुछ राज्यों का उदय स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्य पुर्नगठन अधिनियम के द्वारा हुआ तथा कुछ राज्य उसके बाद सामाजिक, राजनीतिक आंदोलनों के कारण अस्तित्व में आये। राज्यों की ये विशेषताएं राज्यों का राष्ट्रीय राजनीति में एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। भारत में राज्यों के राजनीति के अध्ययन का प्रारम्भ स्वतन्त्रता के पश्चात होता है। प्रारम्भ में केन्द्र तथा राज्य दोनों स्तर पर कांग्रेस दल का वर्चस्व होने के कारण राज्य राजनीति को कोई महत्व प्रदान नहीं किया गया। इसके अध्ययन की शुरुआत मुख्य रुप से 1967 में राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारों के गठन के बाद होती है।

17.2 राज्य राजनीति का विकास

भारत में राज्यों की राजनीति एक लम्बे विकास का परिणाम है। वैसे तो भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्य दोनों की अलग–अलग शक्तियों तथा व्यवस्थाओं का वर्णन किया गया है, किन्तु भारत में राज्यों की राजनीति में कई प्रकार के उतार–चढ़ाव देखने को मिलते हैं। कभी यह नियंत्रित व्यवस्था के रुप में संचालित हुयी तथा कभी इसने केन्द्रीय राजनीति में निर्णायक भूमिका अदा की। इसके विकास के विभिन्न चरणों को अलग–अलग कालों में विभाजित करके समझा जा सकता है।

17.2.1 प्रथम काल : 1947 से 1970 तक

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रथम दो दशकों में राज्यीय राजनीति का उदय केन्द्र के प्रभाव में हुआ। यह काल मुख्य रुप से नेहरु की प्रभावता वाला काल था। इस अवधि में विकास के नेहरुवादी आदर्श एवं कांग्रेस के एक दलीय प्रभुत्व ने ही भारत में राजनीति को अभिव्यक्ति प्रदान की। राज्यीय राजनीति मुख्यतः राष्ट्रीय राजनीति का ही प्रतिरुप थी। केन्द्र सरकार का भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर पूर्ण रुप से नियन्त्रण था। केन्द्र और राज्य दोनों स्तरों पर कांग्रेस की सरकार होने के कारण केन्द्र के दिशा–निर्देशों पर राज्य सरकारों ने अनेक कदम उठाये। राज्य सरकारें सामान्यतः अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों के सम्बन्ध में केन्द्र से निर्देशित होती थीं। इस काल में केन्द्र और राज्यों या परस्पर राज्यों के बीच के विवाद उभरकर सामने नहीं आ पाये क्योंकि यदि ऐसे कोई विवाद इन संस्थाओं के मध्य होते थे तो उन्हें कांग्रेस पार्टी स्तर पर या मुख्यमंत्री की प्रधानमंत्री के साथ अनौपचारिक बैठकों में हल कर लिया जाता था। इस काल के उत्तरार्द्ध में राज्य राजनीति में परिवर्तन की प्रक्रिया देखने को मिलती है। चीन के हाथों पराजय, बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति एवं स्वयं नेहरु के गिरते हुये स्वास्थ्य ने प्रादेशिक नेतृत्व को ज्यादा प्रभावशाली बनाया। प्रादेशिक नेतृत्व के प्रभावशीलता ने राज्य राजनीति को अधिक प्रभावशाली बनाया। 1963 में कामरान योजना के माध्यम से नेहरु ने केन्द्र और राज्य राजनीति पर पुनः नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया, परन्तु इसमें उन्हें आंशिक सफलता ही प्राप्त हुयी। उत्तर नेहरु काल में राज्य स्तर पर निरन्तर बढ़ते हुये असंतोष और कांग्रेस में शक्तिशाली नेतृत्व के अभाव आदि कारणों से राज्यों में गुटबन्दी बहुत तीव्र हो गयी तथा विभिन्न राज्यों में कांग्रेस के ही असन्तुष्ट नेताओं

ने क्षेत्रीय दलों का निर्माण किया। इस काल में ही राज्य स्तर पर क्षेत्रीय दलों ने सत्ता प्राप्त करने के लिये गठबन्धन करना शुरु कर दिया। राज्य स्तर पर क्षेत्रवादी प्रवृत्तियां बहुत अधिक प्रबल हो गयी। 1967 के आम चुनाव में अधिकतर राज्यों में क्षेत्रीय दलों ने मिलकर सरकार का निर्माण किया। इस काल में एक समय ऐसा आया जबकि भारत के दस राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें थी। इस राजनीतिक परिवर्तन ने राज्य राजनीति में कई नई समस्याओं को जन्म दिया, जिसमें दल–बदल, गठबन्धन की राजनीति, राजनीतिक अस्थिरता, केन्द्र राज्य विवाद आदि प्रमुख थे।

17.2.2 द्वितीय काल 1970 से 1980 तक

चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात यह सोचा गया था कि इस चुनाव के पश्चात् भारतीय राज्य राजनीति में कांग्रेस की प्रभुता सदैव के लिये समाप्त हो गयी तथा आगे केन्द्र में भी गठबन्धन राजनीति की स्थापना हो सकती है। परन्तु 1971 के लोक सभा चुनाव के परिणाम इस अवधारणा के बिलकुल विपरीत रुप सामने आया। कांग्रेस ने केन्द्र में दो तिहाई बहुमत से सरकार का निर्माण किया। इसी क्रम में 1972 में अधिकांश राज्यों की विधान सभा के चुनावों में कांग्रेस ने तमिलनाडु तथा केरल को छोड़कर लगभग सभी राज्यों में सरकार का निर्माण किया। इससे केन्द्र के द्वारा एक बार पुनः राज्यों की राजनीति को निर्देशित और नियंत्रित करने की कोशिश की गयी। प्रधानमंत्री द्वारा अपनी इच्छानुसार मुख्यमंत्रियों का चयन किया गया। राजस्थान में सुखाड़िया की जगह वरकतुल्ला खां तथा आंध्र प्रदेश में ब्रहमानन्द रेड्डी की जगह पी0वी0 नरसिम्हाराव को मुख्यमंत्री बनाया गया। इस प्रकार राज्य राजनीति का यह दशक केन्द्र नियंत्रित राजनीति को दर्शाता है, किन्तु 1970 से पहले राज्य राजनीति में जो बदलाव आये थे उनको इस दशक में पूर्ण रुप से रोका जाना संभव नहीं हो सका। राज्यों में क्षेत्रीय दल तथा क्षेत्रीय नेतृत्व राज्य राजनीति में लगातार प्रभावी रहा। इन नेताओं व पार्टियों ने क्षेत्रीय मुद्दों को उठाया तथा केन्द्र राज्य सबन्धों को सुधारने की मांग की। इस काल में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को सुधारने के लिये राज्य स्तरीय नेताओं ने कई प्रयास किये जिसमें राजमन्नार समिति, आनंदपुर साहिब प्रस्ताव, वाम मोर्चा का संकल्प आदि प्रमुख हैं। इस काल में ही कांग्रेस को जन आंदोलनों का सामना करना पड़ा, जिसमें गुजरात और बिहार के आंदोलन प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त राजनीतिक अस्थिरता, गुटबन्दी, दलबदली आदि समस्यायें राज्य राजनीति में जारी रही। 1977 में जनता पार्टी की सरकार के आने के बाद राज्य राजनीति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जनता पार्टी का उदय कई पार्टियों से मिलकर हुआ था। अतः सत्ता में आने के बावजूद इस सरकार में कुछ ही समय में अन्तर्विरोध दिखने प्रारम्भ हो गये थे। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर राज्यों ने केन्द्र पर स्वायत्तता को लेकर दबाव बनाना शुरु किया तथा कई राज्यों ने कई प्रकारों से इस मुद्दे को लेकर केन्द्र सरकार पर दबाव बनाया, जिसमें तमिलनाडु, जम्मू–कश्मीर, पश्चिम बंगाल, केरल आदि प्रमुख राज्य थे।

17.2.3. तृतीय काल 1980 से 1995 तक

1977 में केन्द्र में गठित जनता पार्टी की सरकार अपने अन्तर्विरोधो के कारण अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी। 1980 में केन्द्र में कांग्रेस सत्ता में आयीं तथा मई 1980 में ही नौ राज्यों की विधान सभा चुनाव में तमिलनाडु को छोड़कर शेष राज्यों में कांग्रेस की सरकार गठित हुई। इससे राज्य राजनीति में एक बार फिर केन्द्रीय हस्तक्षेप की शुरुआत हुई। परन्तु 1982–83 में राज्य विधान

सभाओं के चुनाव में कांग्रेस को अधिकतर राज्यों में हार का सामना करना पड़ा। राज्यों में राज्य स्तरीय दल एक प्रमुख दल के रुप में उभरकर आये। इन दलों ने राज्य स्वायत्तता की मांग को जोरदार तरीके से उठाया। फलस्वरुप केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिये 1983 में केन्द्र सरकार द्वारा सरकारियां आयोग की नियुक्ति की गयी। 1984 में इंदिरा गांधी की मृत्यु के कारण कांग्रेस की बागडोर राजीव गांधी के हाथों में आयी। राजीव गांधी का राजनीति के क्षेत्र में कोई विशेष अनुभव न होने के कारण कुछ समय के लिये राज्य राजनीति में एक ऐसा समय आया, जिसमें राज्यों में केन्द्र का हस्तक्षेप बहुत कम हो गया। इस समय में क्षेत्रीय दलों ने राज्य राजनीति में अपने को पूर्ण रुप से स्थापित करने की कोशिश की। 1984 के बाद के अधिकतर विधानसभाओं के चुनाव में क्षेत्रीय दलों ने राज्यों में सरकार का गठन किया। यह प्रक्रिया इस काल में लगातार जारी रही तथा 1989, की केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार क्षेत्रीय दलों की स्थिति और मजबूत कर दिया क्योंकि राष्ट्रीय मोर्चा क्षेत्रीय दलों का ही संगठन था, जिसमें लोकदल, डी. एम.के. तेलगूदेशम मुख्य क्षेत्रीय दल थे। इस सरकार के बनने के साथ राज्य राजनीति ने राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया।

17.2.4 चतुर्थ कालः 1995 से वर्तमान तक

ग्यारहवीं लोक सभा के चुनाव के साथ केन्द्रीय राजनीति में गठबन्धन सरकारों की शुरुआत हुई है। भारतीय जनता पार्टी ने अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में गठबन्धन सरकार का गठन किया। इसमें कई क्षेत्रीय दल सम्मिलित थे। इसके पश्चात बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं लोक सभा चुनाव परिणामों ने भारतीय राजनीति का संतुलन क्षेत्रीय दलों और उनके नेताओं की तरफ मोड़ दिया। क्षेत्रीय दल तथा राज्य राज्यस्तरीय नेता केन्द्रीय राजनीति में किंग मेकर्स बनकर उभरे। केन्द्र में एच0डी देवगौड़ा तथा इंद्रकुमार गुजराल की सरकार के निर्माण मे तेलगुदेशम्, समाजवादी पार्टी, डी0एम0के0 आदि राज्य स्तरीय दलों की मुख्य भूमिका रही। संयुक्त मोर्चे की सरकार की संचालन समिति में चन्द्रबाबू नायडू, जी0के0 मुपनार, एम0 करुणानिधि, मुलायम सिंह यादव की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। क्षेत्रीय दलों तथा उनके नेताओं के बढ़ते प्रभाव को राष्ट्रीय दलों ने स्वीकार किया। भारतीय जनता पार्टी ने क्षेत्रीय दलों के साथ गठबन्धन करके 1998 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन का निर्माण किया जबकि कांग्रेस ने चौदहवीं लोक सभा से पूर्व क्षेत्रीय दलों से मिलकर संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन का निर्माण किया। वर्तमान में राज्यीय राजनीति का राष्ट्रीय राजनीति में इन गठबन्धनों के कारण महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। जो राज्यीय राजनीति अपने शुरुआती दौर में केन्द्र के निर्देशन में चलती थी अब केन्द्र की राजनीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। 1914 के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी की लोक सभा में पूर्णा बहुमत प्राप्त हुआ और नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में सरकार का गइन हुआ। राष्ट्रीय स्तर पर इस बड़े परिवर्तन के बाद राज्य सरकारों की क्या स्थिति तथा भूमिका होगी यह आने वाला समय ही बताएगा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी– **i)** नीचे दिये गये स्थानों में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1. भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रथम दो दशकों में राज्य राजनीति का वर्णन कीजिए।

....

....

....

2. चतुर्थ लोक सभा चुनाव कब हुआ?

क.	सन् 1965	ख.	सन् 1967
ग.	सन् 1970	घ.	सन् 1972

3. सरकारिया आयोग का गठन कब हुआ?

क.	1973	ख.	1983
ग.	1993	घ.	2000

17.3 राज्य राजनीति के निर्धारक तत्व

कोई भी राजनीतिक व्यवस्था पूर्ण रुप से स्वायत्त व्यवस्था नहीं होती है। यह एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करती है। अतः यह समस्त सामाजिक प्रक्रियाओं का एक हिस्सा होती है। यह समाज की अन्य व्यवस्थाओं से प्रभावित होती है तथा उनको प्रभावित भी करती है। भारत में संघीय व्यवस्था होने के कारण संवैधानिक रुप से भारतीय राज्य अपने आप में स्वायल हैं तथा संविधान में वर्णित व्यवस्था के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु व्यावहारिकता में राज्यों की यह स्वायत्तता कई तत्वों से प्रभावित होती है। राज्यीय राजनीति के निर्धारण में राज्यों की सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक संरचनाओं, भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक पृष्ठभूमि आदि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। माइरन वीनर ने अपनी पुस्तक 'स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया' में भारत में राज्यों की राजनीति के अध्ययन में दो तत्वों सामाजिक आर्थिक परिवेश तथा सरकार के कार्य को महत्व प्रदान किया है, जबकि डा0 इकबाल नारायण ने अपनी पुस्तक 'स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया' में भारतीय राज्यों की राजनीति के निर्धारक के रुप में चार तत्वो संस्थागत, राजनीति के संरचनात्मक स्तर, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक तत्व तथा अभिजात्य वर्ग की संरचना का उल्लेख किया है। वैसे तो भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य की अपनी विशिष्टताएँ हैं। प्रत्येक राज्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक रुप में दूसरे राज्यों से भिन्नताएँ रखता है, परन्तु भिन्नताओं के बावजूद सभी भारतीय राज्यों मे कुछ ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जो सामान्यतः सभी राज्यों की राजनीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इन तत्वों का वर्णन निम्नवत् है –

संवैधानिक स्थिति–भारत के सभी राज्य भारतीय संविधान की सीमाओं के भीतर रहकर अपनी भूमिका निभाते हैं। भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यों की जो स्थिति है, राज्य चाहकर भी उसके बाहर जाकर कार्य नहीं कर सकते हैं। संविधान निर्माताओं ने संवैधानिक संरचना की दृष्टि से संपूर्ण राष्ट्र को एक इकाई के रुप में देखा, इसीलिए भारतीय संविधान के अन्तर्गत जिस संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है, उसमें केन्द्र की सरकार को राज्यों की तुलना में अधिक शक्तियां प्रदान की गयी हैं तथा इस व्यवस्था के अन्तर्गत कई ऐसे प्रावधान किए गए हैं, जिनके द्वारा केन्द्र आसानी से राज्यों पर नियंत्रण कर सकता है। इसीलिए राज्य राजनीति का केन्द्रीय सरकार और राजनीति से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

केन्द्रयी सरकार अनेक संवैधानिक उपबंधो का प्रयोग कर राज्य राजनीति को प्रभावित कर सकती है, जिसमें राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यों में राष्ट्रपति शासन, राज्यों को वित्तीय सहायता, राज्यो ंकी सीमाओं, नाम मे ंपरिवर्तन, नये राज्यों का गठन आदि प्रमुख हैं।

राजनीतिक तत्व—राज्य राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनीतिक तत्व हैं। भारत में राज्यों की राजनीति के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि राजनीतिक परिस्थितियाँ राज्य राजनीति के निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। केन्द्रीय नेतृत्व यदि प्रभावशाली तथा शक्तिशाली हैं तो राज्यों का स्वतंत्र रुप से कार्य करना संभव नहीं होता। जैसे—पं0 जवाहर लाल नेहरु के कार्यकाल में राज्य राजनीति केन्द्रीय राजनीति के अनुसार संचालित हुई। इसीलिए इस काल को राज्य राजनीति में शून्य काल के नाम से जाना जाता है। जबकि 1996 से 2014 के बीच में प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त व्यक्ति के बहुत अधिक प्रभावशाली न होने के कारण राज्य राजनीति केन्द्र से निर्देशित होने की जगह उसके द्वारा केन्द्रीय राजनीति को दिशा देने की कोशिश की गयी। केन्द्र में गठन बंधन सरकारों के निर्माण के कारण केन्द्रीय राजनीति में क्षेत्रीय नेताओं की भूमिका अप्रत्याशित रुप से प्रभावशाली हुई है।

राज्य राजनीति में केन्द्रीय राजनीति की तरह मुख्यमंत्री का व्यक्तित्व तथा प्रभावशीलता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसीलिए एक ही समय में भारत के अलग—अलग राज्यों की राजनीतिक स्थिति में अन्तर देखा जा सकता है। स्वतंत्रता के पश्चात् डा0 बी.सी.राय के नेतृत्व में पश्चिम बगाल तथा गोविन्द वल्लभ पन्त के नेतृत्व मे उत्तर प्रदेश की जो स्थिति थी, वह उस समय के मुख्य मंत्रियों के अधीन अन्य राज्यों की नहीं थी। 1980 के उपरान्त पश्चिम बंगाल में ज्योति बसु, आंध्र में एन.टी. रामाराव, चन्द्रबाबू नामडू, जम्मू—कश्मीर में फारुक अब्दुल्ला, तमिलनाडु में एम.करुणनिधि, जयललिता, पंजाब में प्रकाश सिंह बादल, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव, कल्याण सिंह, मायावती आदि की गणना प्रभावशाली मुख्यमंत्रियों के रुप में की जाती है। इन मुख्यमंत्रियों ने अपने प्रभावशीलता से न केवल अपने राज्यों को प्रभावित किया, बल्कि केन्द्र में दूसरे दलों की सरकार होने के बावजूद राज्यों के हितों के अनुसार केन्द्र की सरकार को प्रभावित करने की कोशिश की।

इस तत्व के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों की दलीय स्थिति का भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह माना जाता है कि यदि केन्द्र और राज्य में एक ही दल की सरकारें हैं तो केन्द्र और राज्यों सरकारों के सम्बन्ध अच्छे रहेंगें और इसके विपरीत केन्द्र व राज्य में अलग—अलग दलों की सरकार होने पर सामान्यतः सम्बन्धों में सौहार्द कम देखने की मिलता है, लेकिन द्वितीय परिस्थिति मे मुख्यमंत्री की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारतीय राजनीति में कई ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जबकि केन्द्र और राज्य में अलग—अलग दलों की सरकार होने के बावजूद केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध अच्छे रहे। इसके अतिरिक्त केन्द्र में गठबंधन सरकार होने पर केन्द्रीय सरकार की राज्य राजनीति को निर्देशित करने की क्षमता कम हो जाती है। गठबंधन सरकार में क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण स्थिति होने के कारण केन्द्र सरकार सामान्यतः राज्यों की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करती, जिससे राज्य स्वतंत्र रुप से कार्य करने में सक्षम होते हैं। इसके विपरीत राज्यों में मिली जुली सरकार होने पर केन्द्र के लिए राज्यों की राजनीति को प्रभावित करना आसान होता है। इस प्रकार राजनीतिक तत्व राज्य राजनीति के अध्ययन को कई प्रकार से प्रभावित करता है तथा राज्य की व्यावहारिक राजनीति में इसकी भूमिका अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है।

सामाजिक तत्व : सामाजिक सरंचना की राज्य राजनीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत में प्रत्येक राज्य का एक विशिष्ट सामाजिक स्वरुप देखने को मिलता है जिसमें कुछ राज्यों में जाति, कुछ में भाषा तथा कुछ राज्यों में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण है। राज्यों में जातियों, उपजातियों की स्थिति, अनुसूचित जातियों, पिछड़ी जातियों तथा अल्पसंख्यकों आदि की स्थिति राज्य विशेष की राजनीति तथा निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। राज्य विशेष में राजनीतिक दलों के निर्माण उनके संगठनों, सरकार के गठन तथा सरकार की नीतियों एवं योजनाओं में सामाजिक तत्व के महत्व को आसानी से देखा जा सकता है। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल का आधार इन राज्यों की पिछड़ी जातियां हैं। बहुजन समाज पार्टी समाज के दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व तथा पंजाब में अकाली दल समाज के सिक्ख समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है।

सांस्कृतिक तत्व : भारत में कुछ राज्यों के निर्माण में सांस्कृतिक तत्व की महत्वपूर्ण भूमिका रही है जैसे उत्तर–पूर्वी भारत का पुनगर्ठन का मुख्य आधार संस्कृति को माना जाता है तथा इन राज्यों की राजनीति में इस तत्व की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। वर्तमान में पश्चिम बंगाल में गोरखलैण्ड की मांग सांस्कृतिक आधार पर ही की जा रही है। भारत के अन्य राज्यों में भी सांस्कृतिक तत्व का प्रभाव देखने को मिलता है।

आर्थिक तत्व : किसी राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में आर्थिक विकास का स्वरुप एक महत्वपूर्ण तत्व है। आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर तथा आर्थिक रुप से कमजोर राज्यों की राजनीति का स्वरुप एक दूसरे से भिन्न होता है। जिन राज्यों में प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता, पर्याप्त औद्योगिकीकरण तथा पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं, उन राज्य की राजनीति के स्वतंत्र रुप से विकसित होने की संभावना अधिक होती है। महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, आंध्रप्रदेश आदि राज्यों में आर्थिक सम्पन्नता के कारण केन्द्र से स्वतंत्र राजनीति देखने को मिलती है, जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरपूर्वी राज्यों की स्थिति कमजोर होने के कारण केन्द्र का इन राज्यों की राजनीति में अधिक हस्तक्षेप देखने को मिलता है। पिछले दो दशकों से आर्थिक विकास राज्य राजनीति में महत्वपूर्ण कारक बनकर उभरा है। मतदाताओं ने राज्यों में उन सरकारों को वापस सत्ता में भेजा, जिन्होंने राज्य में विकास और सुशासन को आगे बढ़ाया, जैसे मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, गुजरात राज्यों मं वही सरकारें पुनः सत्ता में आईं जो पहले वहां कार्यरत थीं, जबकि उत्तर प्रदेश, राजस्थान, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आदि राज्यों में लोगों ने सरकार के द्वारा कराये गये विकास के कार्यों से अंसतुष्ट होकर दूसरे दलों को जनादेश दिया।

भौगोलिक तत्व : किसी राज्य की भौगोलिक स्थिति भी उसकी राजनीति को प्रभावित करती है। सीमा से लगे हुए राज्यों में पृथकतावादी प्रवृत्तियों के उदय का कारण उसकी भौगोलिक स्थिति को माना जा सकता है। जम्मू–कश्मीर, पंजाब, नागालैण्ड आदि राज्यों मं इस तरीके की समस्या को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है। भारत में नये राज्यों की मांग के पीछे भी भौगोलिक तत्व एक महत्वपूर्ण कारक के रुप में उभरा है। उत्तर प्रदेश में उत्तराखंड का निर्माण तथा बुन्देलखण्ड की मांग के पीछे भौगोलिक तत्व महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में जमीन उपजाऊ तथा प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता होती है वे राज्य आसानी से विकास करने में सक्षम होते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी i) नीचे दिए गए स्थानों में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इस इकाई के आखिर में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1. राज्य राजनीति के निर्धारक के रुप में राजनीतिक तत्व को लिखिए।

....

....

....

....

2. निम्न में से कौन राज्य राजनीति का निर्धारक तत्व नहीं हैं ?

क. राजनीतिक तत्व

ख. सामाजिक तत्व

ग. नैतिक तत्व

घ. आर्थिक तत्व

17.4 राज्य राजनीति की प्रवृत्तियां

भारत में राज्यों का राजनीतिक परिदृष्य एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद इसके अधिकांश राज्यों में कुछ तत्व ऐसे हैं जो सामान्यतः सभी राज्यों की सामाजिक व्यवस्था में पाये जाते हैं तथा एक दूसरे को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इन तत्वों में परम्परागत तत्वों के रुप में धर्म, जाति भाषा तथा आधुनिक तत्वों में वर्ग चेतना, आर्थिक विकास एवं सुशासन कुछ ऐसे तत्व हैं जो सभी राज्यों की राजनीति को प्रभावित करते हैं। इन सामान्य तत्वों के आधार पर राज्य राजनीति की सामान्य प्रवृत्ति का अध्ययन किया जा सकता है जिसका विवरण निम्नवत है–

दलीय व्यवस्था : राज्य राजनीति की शुरुआत बहुदलीय व्यवस्था के साथ होती है किन्तु प्रारम्भ में अधिकांश राज्यों में बहुदलीय व्यवस्था होने के बावजूद कांग्रेस का वर्चस्व था। वर्तमान में राज्यों में दलीय व्यवस्था पूर्णरुपेण से बहुदलीय व्यवस्था का रुप ले चुकी है। अधिकांश राज्यों में एक या दो राष्ट्रीय दल तथा कई क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व देखने को मिलता है जैसे–तमिलनाडु में कांग्रेस, डी. एम के, अन्ना डी एम के., महाराष्ट्र में भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस, राष्ट्रवादी कांग्रेस, शिवसेना, बिहार में कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, जनता दल यूनाइटेड, राष्ट्रीय जनता दल, उत्तर प्रदेश में कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी। बहुदलीय व्यवस्था होने के बावजूद भी अधिकांश राज्यों में यह देखने को मिलता है कि चुनाव के समय यह व्यवस्था प्रतियोगी द्विदलीय प्रणाली में परिवर्तित हो जाती है। उत्तर प्रदेश की राजनीति में चार महत्वपूर्ण दलों की उपस्थिति के बावजूद पिछले दो चुनावों में सत्ता के लिये मुख्य संघर्ष समाजवादी पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी के मध्य था तथा अन्य दलों का उद्देश्य अपने आपको राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण बनाये रखना था।

राजनीतिक स्थायित्व : 1967 के विधान सभा चुनावों के पश्चात राज्य राजनीति अस्थिरता का पर्याय बनकर उभरी जिसने 80 के दशक तक राज्य राजनीति को प्रभावित किया, किन्तु पिछले दो दशकों में राज्यों में राजनीतिक स्थायित्व की प्रवुत्ति उभरी है। राज्य राजनीति में इस प्रवृत्ति के विकास के पीछे कई कारण हैं यथा क्षेत्रीय दलों में शक्तिशाली नेतृत्व का विकास, अनुच्छेद 356 का कम प्रयोग, केन्द्र में गठबन्धन सरकारों का निर्माण, राज्यों में एक दल की सरकार तथा जनता का गठबन्धन सरकारों से मोहभंग।

विकास एवं सुशासन : भारत में राज्यीय राजनीति को परम्परागत राजनीति के प्रतिरुप के रुप में देखा जाता था जिसमें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रवाद आदि तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, किन्तु पिछले दो दशकों में राज्य राजनीति में विकास एवं सुशासन जैसे मुद्दों ने निर्णायक भूमिका अदा की है। वर्तमान में राज्य राजनीति में आर्थिक विकास और सशासन प्रमुख मुद्दे बनकर उभरे हैं। उत्तर प्रदेश में 2007 में बहुजन समाज पार्टी की सरकार पिछले सरकार की खराब कानून–व्यवस्था के कारण अस्तित्व में आयी। जबकि 2012 के चुनाव में उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी की सरकार में भ्रष्टाचार के कारण लोगों ने इस दल को सत्ता से बाहर कर दिया। गुजरात में आर्थिक विकास के कारण ही नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी ने लगातार तीन बार सरकार का गठन किया। मध्य प्रदेश में आर्थिक विकास के कारण लगातार तीन बार भारतीय जनता पार्टी ने अपनी सरकार बनायी। बिहार जैसे जाति आधारित राजनीति वाले राज्य में नीतिश कुमार विकास के कारण दो बार सरकार बनाने में सक्षम हुए। यह प्रवृत्ति वर्तमान में राज्य राजनीति में एक ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे के रुप में उभरी है कि वे राजनीतिक दल जिनकी उत्पत्ति ही जाति या वर्ग पर आधारित है, विकास और सुशासन की बात करने लगे हैं।

दलित एवं पिछड़े वर्ग का नेतृत्वः नेतृत्व की दृष्टि से स्वतन्त्रता के पश्चात प्रारम्भिक दशकों में राज्यों का नेतृत्व मुख्यतः उच्च जातियों हाथों में था, किन्तु पिछले दो दशकों में इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। अधिकांश राज्यों में दलित एवं पिछड़े वर्ग के शक्तिशाली नेतृत्व का उदय हुआ है, जिन्होंने राज्य राजनीति की प्रकृति को प्रभावित किया है। नेतृत्व का आधार मुख्यतः जाति तथा वर्ग है। अतः इससे राज्य राजनीति में जाति तथा वर्ग की राजनीति को राज्यों में बढ़ावा मिला। उत्तर प्रदेश में मायावती एवं मुलायम सिंह यादव, बिहार में लालू प्रसाद यादव, नीतीश कुमार मध्य प्रदेश में उमा भारती, महाराष्ट्र में सुशील शिंदे राजस्थान में अशोक गहलोत आदि राज्य राजनीति के कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने अपने–अपने राज्यों की राजनीति के साथ केन्द्रीय राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वर्तमान राज्य राजनीति में प्रत्येक दल के अंदर समाज के इन वर्गों का शक्तिशाली नेतृत्व देखने को मिलता है।

नये राज्यों की मांग : भारत में नये राज्यों की मांग स्वतन्त्रता के पश्चात से ही देखने को मिलती है। उस समय नये राज्यों की मांग का मुख्य आधार भाषा या संस्कृति था। 1956 के राज्य पुर्नगठन अधिनियम में भी भाषा को ही मुख्यतः आधार बनाकर राज्यों का पुर्नगठन किया गया। इसके पश्चात भी भारत में इन्हीं आधारों पर कई नये राज्य बने, जिनमें हरियाणा, गुजरात, नागालैण्ड, मणिपुर आदि प्रमुख हैं।

सन् 1990 के बाद राज्य राजनीति में यह प्रवृत्ति बहुत तीब्रता से बढ़ी है। सन् 2000 में उत्तराखण्ड, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ तथा 2014 में तेलांगाना के निर्माण के बावजूद वर्तमान में उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड, हरित प्रदेश, पूर्वांचल, पश्चिम

बंगाल में गोरखालैण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र आदि नये राज्यों के गठन की मांग की जा रही है। इन राज्यों के गठन की मांग का आधार मुख्यतः इन क्षेत्रों का राज्य के अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम विकसित या विकसित न होना माना जा रहा है। 1990 के पश्चात गठित नये राज्य तथा नये राज्यों की मांग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान में नये राज्यों की मांग के कारणों में बदलाव आया है। अब इस मांग का मुख्य आधार भाषा या संस्कृति न होकर विकास एवं सुशासन हो गया है।

शक्तिशाली नेतृत्व का उदय : स्वतन्त्रता के पश्चात राज्य राजनीति को केन्द्रीय राजनीति की अनुगामिनी के रुप में देखा गया। राज्य राजनीति में यह स्थिति भारत में अस्सी के दशक तक देखने को मिलती है। इसका मुख्य कारण केन्द्रीय नेतृत्व का राज्य के नेतृत्व से अत्यधिक शक्तिशाली होना तथा कांग्रेस का राज्य राजनीति में वर्चस्व था। 1980 के पश्चात राज्य राजनीति में कई ऐसे नेतृत्व उभरकर आये जिन्होंने न सिर्फ राज्य राजनीति में अपनी पहचान बनायी बल्कि केन्द्र की राजनीति को भी प्रभावित किया। पश्चिम बंगाल में ज्योति बसु, जम्मू कश्मीर में फारुक अब्दुल्ला, पंजाब में प्रकाश सिंह बादल, हरियाणा में देवीलाल, आन्ध्र प्रदेश में एन.टी. रामाराव, तमिलनाडु में एम0 करुणानिधि, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव, मायावती, बिहार में लालू प्रसाद यादव आदि नेताओं ने अपने–अपने राज्यों में अपने दल की सरकारों के गठन के अलावा केन्द्रीय राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। केन्द्र में गठबन्धन सरकारों के निर्माण में इस नेतृत्व की निर्णायक भूमिका रही है।

राज्य स्वायत्ता :राज्य राजनीति का उदय केन्द्रीय राजनीति के प्रभाव में हुआ। इसीलिए स्वतन्त्रता के पश्चात से ही राज्य स्वायत्तता की मांग राज्यों की प्रमुख मांग रही है। इसके लिए राज्यों ने कई समितियों का गठन करके केन्द्र को प्रभावित करने की कोशिश की, किन्तु 1980 तक इसमें कोई विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिला। 1980 के पश्चात केन्द्र के द्वारा सरकारिया कमीशन का गठन, राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारों का निर्माण तथा 1996 से केन्द्र में गठबन्धन सरकारों के निर्माण के कारण राज्य राजनीति एक नये स्वरुप में उभरकर आयी है। 1990 के पश्चात केन्द्र के द्वारा अनुच्छेद 356 का अल्पतम प्रयोग आर्थिक उदारीकरण के कारण राज्यों को आर्थिक क्षेत्र में मिली स्वायत्ता, शक्तिशाली नेतृत्व आदि ने राज्य राजनीति को स्वायत्तता, शक्तिशाली स्थिति प्रदान की हैं। वर्तमान में राज्य राजनीति में केन्द्र का हस्तक्षेप सामान्यतः कम देखने को मिलता है तथा अधिकांश राज्य स्वायत्तापूर्ण रुप में कार्य कर रहे हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी– i) नीचे दिये गये स्थानों में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1. राज्य राजनीति की दलीय प्रवृत्ति को लिखिए।

....
....
....
....
....
....

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2. तेलंगाना का निर्माण कब हुआ?

क.	सन् 2000	ख.	सन् 2010
ग.	सन् 2012	घ.	सन् 2014

17.5 सारांश

राज्यीय राजनीति भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण पक्ष है। भारत एक राज्यों का संघ है। अतः राज्यों की राजनीति का अध्ययन राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये अति आवश्यक है। राज्यीय राजनीति के विकास में कई उतार चढ़ाव देखने को मिलते हैं। वर्तमान राज्यीय राजनीति का स्वरुप इसी विकास की प्रक्रिया का परिणाम है। राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने वाले कई तत्व हैं। प्रत्येक राज्य की अपनी विशिष्टतायें हैं, किन्तु कुछ तत्व ऐसे हैं जिनका प्रभाव सभी राज्यों की राजनीति में देखने को मिलता है। इन तत्वों में संवैधानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि की भूमिका सभी राज्यों की राजनीति में दखने को मिलती है।

राज्य राजनीति की कुछ अपनी विशिष्टताएं हैं जो भारतीय राजनीति में इसको अलग महत्व प्रदान करती हैं। इनको राज्य राजनीति की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के रुप में अध्ययन किया जाता है। वर्तमान में राज्य राजनीति की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के अन्तर्गत दलीय व्यवस्था, विकास की राजनीति, शक्तिशाली नेतृत्व का उदय, केन्द्र से स्वायत्तता आदि प्रमुख हैं।

17.6 शब्दावली

राज्य स्वायत्तता : भारतीय संघ के अन्तर्गत रहते हुये राज्यों को अपने क्षेत्र में कार्य एवं निर्णय की स्वतन्त्रता।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वीनर माइरन (संपा), स्टेट पॉलिटिक्स इन इंण्डिया, पिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, 1968

नारायण इकबाल (संपा), स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, मिनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1976

पाई सुधा, स्टेट पॉलिटिक्स, न्यू डायमेनसंस, शिप्रा प्रकाशन, दिल्ली 2000

कुमार आशुतोष (संपा), रीथिंकिंग स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, रोटलेंज दिल्ली, 2011

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. देखें 17.2.1
2. ख. 1967
3. ख 1983

बोध प्रश्न–2

1. देखें 17.3
2. ग. नैतिक तत्व

बोध प्रश्न–3

1. देखें 17.4
2. घ 2014

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-102
भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 2

भारत में दलगत राजनीति और राजनीतिक आन्दोलन

इकाई – 18 **29**

भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरुप और विकास

इकाई – 19 **39**

प्रमुख राष्ट्रीय दल–सिद्धान्त सामाजिक आधार और संगठन

इकाई – 20 **57**

भारत की क्षेत्रीय राजनैतिक दल

इकाई – 21 **73**

भारत के राजनीतिक आन्दोलन

इकाई – 22 **95**

राजनीतिक समूह : प्रेस, व्यवसाय, छात्र और किसान

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, कुलपति, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक/परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीति विज्ञान विभाग 3/184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई–18

भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरुप और विकास

इकाई की रुपरेखा –

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 राजनीतिक दल : अर्थ एवं परिभाषा

18.3 दलीय व्यवस्था के प्रकार

18.4 राजनीतिक दलों की विशेषताएं

18.5 भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरुप

18.6 भारत में दलीय व्यावस्था का विकास

18.7 सारांश

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस ईकाई भारत में दलीय व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत दलीय व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की चर्चा की गयी हैं। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप दलीय व्यवस्था के निम्न पहलुओं को समझ सकेंगे।

- ➢ राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषा
- ➢ राजनीतिक दलों का वर्गीकरण एवं विशेषताएं
- ➢ भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरुप
- ➢ भारत में दलीय व्यवस्था का विकास

18.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल लोकतंत्रीय व्यवस्था के आधार होते है। दल प्रणाली के बिना लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली कार्य ही नही कर सकती। शासन का रुप चाहे संसदात्मक हो या अध्यक्षात्मक, एकात्मक हो या संघात्मक, दल प्रणाली के अभाव में इसका क्रियान्वयन असंभव हैं राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर करनें का कार्य है। ये लोकतंत्र के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन होते है। भारत में राजनीतिक दलों का अध्ययन जटिलतापूर्ण है। उनका विकास, बढ़ती हुयी संख्या,

उद्देश्य, कार्यप्रणाली, बहुमुखी आधार ने इसको जटिल बचा दिया है। अनेक राजनीतिक विचारकों ने भारत की दलीय पद्धति के स्वरुप को अलग–अलग विधियों से समझाने का प्रयत्न किया है। व्यापक रुप से भारतीय दलीय व्यवस्था जिसे रजनी कोठारी ने कांग्रेस सिस्टम कहा तथा द्वितीय चरण को बहुदलीय गठबंधनों के रुप में देखा जा सकता है, जिसकी शुरुआत भारतीय राजनीति में 1991 से होती है।

18.2 राजनीतिक दल : अर्थ एवं परिभाषा

राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का संगठित समूह है, जो सार्वजनिक समस्याओं पर समान विचार रखते है,जो मूलभूत सिद्धांतो पर सहमत होते है और जो शासन सत्ता को संविधानिक साधनों द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करतें हैं। लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। राजनीतिक दलों हैं। बिना निर्वाचित सरकारों की कल्पना दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचित सरकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजनीतिक दल, लोकतंत्र के साधन और आधारशिलायें हैं। दल उसके 'प्राण' ह्ृदय और आत्मा है। ये शासन के चतुर्थ अंग है।

राजनीतिक दलों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–सत्ता पक्ष और विपक्ष। बहुमत प्राप्त दल सरकार का निर्माण करता है और अल्पमत प्राप्त दल जनहित के आधार पर उसकी नीतियों की आलोचना या विपक्ष की भूमिका का निर्वाह करता है। दल शासन का रक्षक, आलोचक और सुधारक है। राजनीतिक दल सरकार को निरंकुश होने से बचाते है। इस दृष्टि से वे स्वतंत्रता के प्रहरी है।

दल विचारों व सिद्धांतो में एकमत उत्पन्न करतें है। जटिल राजनीतिक समस्याओं को सरल रुप में जनता के समझ प्रस्तुत करते हैं और राष्ट्रीय विषयों पर जनमत का निर्माण करते हैं। विभिन्न विचारकों ने दल की अलग–अलग परिभाषाएं की हैं।

एडमण्ड बक्र ''राजनीतिक दल कुछ लोगों का समूह है जो कुछ सिद्धांतों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जनहित को आगे बढ़ाने के लिये संगठित रहता है।''

मैकाइबर, ''राजनीतिक दल कुछ लोगों का समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिये संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धांत या नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयन्त करता है।''

इस प्रकार व्यक्तियों के किसी भी समूह को जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कार्य करता है, दल कहते है। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो एसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

बोघ प्रश्न–1

नोट **1.** नीचे ईकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

2. उन्हें ईकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1. राजनीतिक दल के अर्थ की संक्षिप्त व्याख्या करें।

....
....
....
....
....
....
....

18.3 दल व्यवस्था के प्रकार

दलीय व्यवस्थाओं को मुख्य रुप से तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है एकदलीय व्यवस्था, द्विदलीय व्यवस्था एवं बहुदलीय व्यवस्था।

एकदलीय व्यवस्था : किसी देश की दल व्यवस्था को एक दलीय व्सवस्था तब कहतें है यदि देश में केवल एक दल हो तथा शासन करने वाले सभी सदस्य एक हील दल के सदस्य हों। इस व्यवस्था मं संपूर्ण देश में केवल एक ही दल होता है तथा अन्य किसी दल को गठित होने की स्वतंत्रता नही होती। दल के विरुद्ध किसी भी प्रकार का विद्रोह राष्ट्रद्रोह समझा जाता हैं इस व्यवस्था मं यहिद कोई अन्य दल गठित होता है तो वह अर्वध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शासन के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था पूर्व में निरंकुश राजतंत्रों तथा वर्तमान में अधिनायकतंत्रों तथा जनवादी लोकतंत्रों में देखने को मिलती है, जैसे चीन, क्यूबा आदि की दलीय व्यवस्थाएं इसके मुख्य उदाहरण हैं।

द्वितीय व्यवस्था : द्विदलीय व्यस्था ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें किसी राजनीतिक व्यवस्था में दो दलों की प्रधानता हो। इस प्रणाली से यह अभिप्राया नहीं है कि किसी व्यवस्था मं दो दलों हो और तीसरे दल का अस्तित्व न हो बल्कि इस व्यवस्था में अन्य दलों का प्रभाव इतना क्षीण होगा तथा उनके निर्वाचित प्रतिनिधि इतने कम होते है कि सत्ता दो प्रधान दलों के पास ही रहती है। ब्रिटिश दलीय व्यवस्था इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। कहाँ कई दषकों से राजनीतिक व्यवस्था पर सिर्फ दो दल, लेबर पार्टी या कंजरवेटिव पार्टी ही सत्तारुढ़ रही है। अमेरिका में भी द्विदलीय व्यवस्था देखने को मिलती है। यहाँ डेमोक्रेट तथा रिपब्लिकन पार्टी प्रमुख है। यहाँ पर अमेरिकी साम्यवादी दल, अमेरिकी श्रमिक संघ जैसे दल के होते हुये भी द्विदलीय व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं

बहुदलीय व्यवस्था : जिन देशों में दो से अधिक राजनीतिक दल ऐसी स्थिति में हो जो किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने की स्थिति में हो उसे बहुदलीय व्यवस्था कहते है। बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में प्रायः किसी दल को बहुमत नही मिल पाता। ऐसी स्थिति में प्रायः किसी दल को बहुमत नही मिल पाता। ऐसी स्थिति में प्रायः अनेक दल मिलकर गठबंधन सरकार बनाते हैं। यूरोप के अधिकांश राज्यों में तथा अफ्रीका एवं एशिया के नवस्वतंत्र देशों में यह व्यवस्था देखने को मिलती है। बहुदलीय व्यवस्था का आदर्श उदाहरण फ्रांस को माना जाता है। भारत में भी 1990 के पश्चात बहुदलीय व्यवस्था पूर्ण रुप से देखने को मिलती हैं। सामान्यतः बहुदलीय व्यवस्था में यह निश्चित नही होता कि कौन से दल आपस में अस्थिरता देखने को मिलती है भारत में भी केंन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर बेमेल गठबंधनों की सरकारों का निर्माण हुआ है जो अस्थिर है।

बोध प्रश्न 2

नोट 1. नीचे दिये गये जगह में उत्तर लिखें।

2. उन्हें ईकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलांए।

1. ब्रिटेन की दलीय व्यवस्था निम्न में से किस प्रकार की है?

   a एकदलीय b. द्विदलीय

   c. बहुदलीय d. एकदलीय प्रमुख बहुदलीय

2. बहुदलीय व्यवस्था से आप क्या समझते हैं?

   ....
   ....
   ....
   ....
   ....
   ....

18.4 राजनीतिक दलो की विशेषताएं

राजनीतिक दलों के कतिपय परिभाषाओं के अध्ययन से उसकी कुछ विशेषताएं स्पस्ट होती है, जिन्हें राजनीतिक दल का मुख्य तत्व भी कहा जा सकता है। राजनीतिक दल के निर्माण में व्यक्तियों का समूह और संगठन, दल के सदस्यों में सिद्धांतों की समरुपता, राष्ट्रीय हित और सांविधानिक साधन आवश्यक तत्व हैं। राजनीतिक दल की प्रमुख दिशेषताएं है–

1. दल को स्थिरता प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि उसका एक संगठन हो, संगठन से आशय है कि उसके निर्माण के संबध में आवश्यक नियम, परिनियम, कार्यालय, पदाधिकारी आदि की व्यवस्था लिखित अथवा अलिखित रुप में अवश्य हो। ऐसा होने से दल में अनुशासन विद्यमान रहता है। संगठन न होने की दशा में दल के सदस्य मात्र मीड़ के रुप में होंगे। दल अपने निर्माण का उद्देश्य संगठन के अभाव में प्राप्त नहीं कर सकेगा।

2. दल के सदस्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कतिपय सिद्धांत एवं नीतियों का निर्माण करते है तथा उस पर मतैक्य रखतें हैं। सैद्धांतिक सहमति एवं सकता ही दल को आधार प्रदान कर सकता है। विचारों में विभिन्नता की स्थिति में दल में विघटन अवश्यम्भावी है।

3. राजनीतिक दल जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संगठित होते हैं, उसे प्राप्त करने हेतु उन्हें संवैद्यानिक साधन का ही प्रयोग चाहिए। आतंक, हिंसा आदि अनुचित साधन का प्रयोग करने वाले संगठन या समूह राजनीतिक दल की श्रेणी में नही आ सकते।

4. राजनीतिक दल का दृष्टिकोण व्यापक होता है। संपूर्ण देश के हित के लिये कार्य करने का उद्देश्य राजनीतिक दल का होता है। उनके कार्यक्रमों, नीतियों, सिद्धांतों व आदर्शो का आधार राष्ट्रीय हित की

अभिवृद्धि करना ही होता है। क्षेत्रीय व सांप्रदायिक आधार रखने वाले समूह जो किसी खास वर्ग, जाति, धर्म के हित को ध्यान में रखकर नीतियों का निर्माण करते हैं, उन्हें राजनीतिक दल की श्रेणी में नही रखा जाता।

बोध प्रश्न 3

नोट **1.** नीचे दिये गये जगह में उत्तर लिखें।

2. उन्हें इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाएं।

1. दलीय व्यवस्था की किन्ही दो विशेषताओं को लिखिए।

....
....
....
....
....
....
....

18.5 भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरुप

विश्व के प्रत्येक लोकतांत्रिक राज्य में दलीय प्रणाली का स्वरुप देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरुप विकसित होता है। भारतीय दलीय व्यवस्था भी इस सिंद्धान्त का अपवाद नही है। भारत में दलीय व्यवस्था के स्वरुप पर भारतीय राज्य के इतिहास, सांस्कृतिक विभिन्नताओं और भौगोलिक विविधता तथा सामाजिक परिर्वतन एवं आर्थिक विकास की जरुरतों के प्रभाव स्पष्ट दिखते है। भारत में राजनीतिक दलों यूरोप में किसी वर्ग विशेष ने सत्ता पर आसीन कुलीनतांत्रिक वर्ग को अदरथ करने के लिए दलों का निर्माण किया, वहां भारत में राज्य के सभी वर्गो ने मिलकर जो कांग्रेस में सम्मिलित थे, विदेशी शासन को हटाने का प्रयास किया क्योंकि सभी का उद्देश्य देश को विदेशी सत्ता से स्वतंत्र कराना था। दूसरे जहाँ अमेरिका और ब्रिटेन जैसे देशों में दलों का निर्माण विचसरधरात्मक था, वहीं भारत में कांग्रेस तथा अन्य दलों की उत्पत्ति विदेशी शासन का अंत करने और सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए हुई थी। स्वतंत्रता के पश्चात जब कांग्रेस ने अपने आपकों एक दल के रुप में संगठित किया तो एसके अंदर विद्यमान अन्य विचारधाराओं के समर्थक उससें पृथक हो गये। इस प्रकार भारत में दलों का विकास पृथक विचारधारा के आधार पर कांग्रेस के बाहर से न होकर इसके अंदर से ही हुआ है। उदाहरणतया– प्रजातांत्रिक सोशालिस्ट पार्टी, साम्यवादी दल आदि कांग्रेस के अंदर विद्यमान कांग्रेस समाजवादी दल से ही निकले हैं। स्वतंत्र दल के संस्थापक राजगोपालाचारी मीनू मसानी आदि एक समय कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ताओं में से थे। राष्ट्रीय दलों के अतिरिक्त भारतीय दलीय व्यवस्था में अनेक प्रदेशिक दल है। इन दलों का भी विकास पृथक विचारधारा के आधार पर न होकर कांग्रेस से या कांग्रेस के विरोध में हुआ। क्षेत्रीय दलों की उत्पत्ति में जाति, धर्म भाषा का प्रभाव स्पष्ट रुप से देखने को मिलता है।

उपर्युक्त से यह स्पस्ट होता है कि भारतीय दलीय व्यवस्था के स्वरुप के निर्धारण में यहां के परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका रही है।

18.6 भारत में दलीय व्यवस्था का विकास

भारत में दलीय व्यवस्था के विकास पर समय व परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रुप से दिखता है। भारतीय दलीय व्यवस्था के विकास को प्रथमतः स्वंतत्रता से पूर्व तथा स्वंतत्रता के पश्चात दो चरणों में विभाजित कर अध्ययन किया जाना उचित होगा। स्वतंत्रता के पश्चात के अध्ययन के अन्तर्गत इसके विकास को निम्न पाँच चारणों में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है।

1947 से 1977 तक

1967 से 1977 तक

1977 से 1980 तक

1980 से 1995 तक

1996 से वर्तमान तक

स्वतंत्रता से पूर्व दलीय व्यवस्था का विकास

स्वतंत्रता से पूर्व दलीय व्यवस्था का विकासः

कांग्रेस की स्थापना के साथ होती है। तत्पश्चात कई अन्य दल 1885 से 1947 के बीच गठित हुये, जिसमें हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अकाली दल जैसे राजनीतिक दल महत्वपूर्ण थे। स्वतंत्रता आंदोलन को नेतृत्व देने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वंतंत्रता के पहले के राजनीतिक विकस क्रम को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। 1885 से 1904 तक यह दल मुख्यतः शिक्षित मध्यमर्गीय, व्यापारी वर्ग, जमीदारों एवं वकीलों का प्रतिनिधित्व करने वाला दल था, जिसका मुख्य उद्देश्य विधानपरिषदों में भारतीय प्रतिनिधित्व था। इस समय कांग्रेस का चरित्र मुख्यतः मंचीय था।

1905 से कांग्रेस के विकास का दूसरा चरण शुरु हुआ जो 1918 तक चलता है। इसमें कांग्रेस ने एक राष्ट्रीवादी चरित्र अख्तियार किया।

कांग्रेस के अन्तर्गत संविधानवादी नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच एक अकराव की स्थिति देखने को मिलती है। इन अन्तर्विरोर्घो के बावजूद कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन के केन्द्र के रुप में उभरकर सामने आयी। 1915 में गांधी जी के भारत आगमन के साथ ही कांग्रेस ने एक आंदोलन का रुप लेना शुरु कर दिया। 1919 तक कांग्रेस ने स्पष्ट रुप से एक आंदोलन का रुप धारण कर लिया यहीं से कांग्रेस के तीसरे चरण की शुरुआत होती है, जो 1947 तक रहा, स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस के इस काल में इस दल को एक छतरी संगठन के रुप में जाना जाता है। जिसकें अन्तर्गत कई प्रकार की विचारधाराएं तथा कई प्रकार के हित समाहित थे। इसीलिए कांग्रेस को समाज के बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त था। स्वतंत्रता के पश्चात कांग्रेस का आंदोलनकारी चरित्र समाप्त होता है तथा यह स्वतंत्र भारत में एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दल के रुप में लगभग चार दषकों से अधिक समय तक शासक दल बनी रहीं। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में दलीय व्यवस्था का विकासः 1947 से 1967 तक

दलीय व्यवस्था के विकास क्रम के इस प्रथम चरण को प्रमुख राजनीतिक वैज्ञानिकों ने एक दलीय प्रभुत्व वाली बहुदलीय व्यवस्था के रुप में वर्णित किया है इस काल में राष्ट्रीय स्तर के दो ही दल थे, जिसमें एक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

जिसका संगठन व्यापक व विशाल था तथा दूसरा साम्यवादी दल था, जो एक सीमित स्तर पर कार्य कर रहा था। इसके अतिरिक्त राज्य स्तर पर कई क्षेत्रीय दल थे जिनकी सता में भागीदारी नगण्य थी। इस प्रकार पहले चरण में भारत की दलीय व्यवस्था में कांग्रेस ही प्रमुख दल था। केन्द्र तथा राज्य स्तर पर जो दल थे, उनकी यह स्थिति नही थी कि वह केन्द्र या राज्य स्तर पर कांग्रेस की इस लोकप्रियता के पीछे इसके नेताओं की सीमित रहा। कांग्रेस को टक्कर दे सकें। कांग्रेस के व्यापक विचारधारात्मक आधार के कारण अन्य दलों का अस्तित्व भारतीय राजनीति में सीमित रहा। कांग्रेस की इस लोकप्रियता के पीछे इसके नेताओं की लोकप्रियता और स्वतंत्रता आंदोलन में इसकी भूमिका प्रमुख थे।

1967 से 1975 तक

भारत में दलीय व्यवस्था के दूसरे चरण के विकास की शुरुआत नेहरु के मृत्यु के बाद से ही देखी जा सकती है।

कांग्रेस में बढ़ते हुये असंतोष प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव के कारणों से राज्यों मं गुटबन्दी तीव्र हो गयी तथा विभिन्न राज्यों में कांग्रेस के ही नेताओं ने कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर क्षेत्रीय दलों का निर्माण किया, जिसमें जनता पार्टी (राजस्थान) केरल में केरल कांग्रेस तथा पश्चिम बंगाल में बंगला कांग्रेस प्रमुख हैं। चौथे आम चुनाव में कांग्रेसियों द्वारा अपनी पार्टी में ही तोड़–फोड़ करते हुये अपने ही दल को नुकसान पहुँचाया। चौथे आम चुनाव मे भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यों में गैर कांग्रेस सरकारों का निर्माण हुआ तथा कुछ राजनीतिक विश्लेषकों ने इस चुनाव को प्रथम वास्तविक चुनाव की संज्ञा दी। 1967 के चुनाव में कांग्रेस के प्रभुत्व को पहला झटका मिला। इस काल में राष्ट्रीय स्तर पर जनसंघ तथा मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी तथा क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि हुयी। विपक्षी दलों के बढ़तें वर्चस्व से केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव को लकर एक नई समस्या भारतीय राजनीतिक पहल पर उभर कर सामने आयी। राज्य स्तर पर बहुदलीय व्यवस्था पहली बार देखने को मिली तथा यह अनुमान लगाया गया कि आगे चलकर यही व्यवस्था केन्द्रीय राजनीति में भी स्थापित होगी। परन्तु अपेक्षाओं के विरुद्ध राज्य स्तर पर दलीय व्यवस्था में सयह परिवर्तन पूर्ण रुप से असफल रहा क्योंकि दो वर्ष के अंदर ही जिन राज्यों में गैर कांग्रेसी दल के द्वारा सरकारों का गठन किया गया था, वे अन्तक्रलह, विचारधारात्मक विरोधाभास, पदलोलुपता के कारण गिर गयी। 1969 में कांग्रेस के विभाजन ने भारतीय दलीय व्यवस्था में कांग्रेस के वर्चस्व के सामने एक बड़ी चुनौती खड़ी की।

1971 के चुनाव में इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) को संयुक्त विपक्ष का सामना करना पड़ा, फिर भी इसे सशक्त बहुमत प्राप्त हुआ। इस दौर की आगे की राजनीति के कंन्द्र में इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस ही रहीं। कांग्रेस के राज्य स्तरीय नेतृत्व और विपक्षी दलों के साथ इंदिरा गांधी के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। पार्टी और सरकार दोनों ही स्तरों पर केन्द्रीयकरण की नहीत अपनाने से पार्टी व सरकार का टाँचा व्यक्ति केन्द्रित होता गया। इस नई व्यवस्था से पार्टी के अंदर एवं राज्य स्तर तक लोकतांत्रिक प्रक्रिया का लगभग अंत हो गया। राजनैतिक संस्थाओं के विखराव, प्रांतीय नेताओं की प्रभावहीनता केन्द्र द्वारा राज्य स्तर पर सीधे हस्तक्षेप से भातीय राजनीतिक व्यवस्था एकात्मक व्यवस्था की तरह कार्य करने लगी।

इन परिस्थितियों में विपक्षी दलों के फिर से उभरने का मौका मिला। राज्य स्तरीय दलों ने कांग्रेस की नीतियों की आलोचना करना शुरु किया तथा राज्य

स्तर पर कई आन्दोलन हुये, जिनमें गुजरात नव निर्माण आन्दोलन, 1973 तथा जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार आन्दोलन प्रमुख थे। इन परिस्थितियों से निपटने के लिये कांग्रेस ने आक्रमक रुख अख्तियार किया। इसी प्रक्रिया में जून 1975 में इंन्दिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा कर दी। 19 महीने के आपातकालीन शासन ने राजनीतिक संस्थाओं को कमजोर करनें के साथ भारतीय दलीय व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया।

1977 से 1995 तकः 1977 के चुनावों में कांग्रेस की हार से भारत में दलीय व्यवस्था के विकास क्रम का एक नया चरण शुरु होता हैं। कई क्षेत्रीय दलों के सहमिलन से बनी जनता पार्टी के हाथों 1977 के चुनाव में कांग्रेस की परानय से भारतीय दलीय व्यवस्था में राष्ट्रीय स्तर पर एक बड़ा परिवर्तन देखनें को मिलो। केन्द्रीय स्तर पर भारत में यह पहली गैर कांग्रेस सरकार थी। राज्य स्तर पर भी जनता पार्टी ने कई राज्यों में कांग्रेस को पराहजत कर सरकारों का निर्माण किया। इस तरह 1977 के चुनावों ने भारतीय राजनीति में एक दलीय प्रभुत्व की समाप्ति तथा दो दलीय व्यवस्था की धुँधली शुरुआत की। परन्तु जनता पार्टी में अन्तक्रलह, घटकों के परस्पर विरोधी हितों के लिए 1980 में पार्टी के विघटन कसे कांग्रेस दुबारा सता में वापस गयी। 1984 में इंन्दिरा गांधी की हत्या के बाद हुये चुनाव में कांग्रेस पार्टी का व्यापक बहुमत प्राप्त हुआ जिसमें भारतीय व्यवस्था में अन्य दलों की भूमिका को बुरी तरह प्रभावित किया।

दलीय व्यवस्था के संबंध में 9वी लोकसथा का चुनाव महत्वपूर्ण है। इस चुनाव में केंन्द्र स्तर पर गठबंधन सरकारों की शुरुआत होती है। चुनाव में राष्ट्रीय मोर्चे के तहत कई क्षेत्रीय दलों ने मिलकर इस चुनाव को लड़ा तथा बहुमत न प्राप्त होने के बावजूद भाजपा तथा कम्यूनिस्टों को बाहर ये समर्थन पर केन्द्र में वी. पी.सिंह के नेतृत्व में सरकार का गठन किया । यह गठबंधन भी अंतविरोघें के कारण पाँच साल सरकार का निर्माण किया जिसने 1995 तक कार्य किया।

1996 से वर्तमान तक : 1996 के चुनाव से भारतीय दलीय व्यवस्था एक नये रुप में उभर कर सामने आती हैं। इस चुनाव में भारतीय जनता पार्टी सदन में सबसे बड़े दल के रुप में उभर कर आयी। भारतीय जनता पार्टी ने कई सहयोगी दलों के साथ मिलकर केन्द्र में सरकार का गठन किया। इस चुनाव के साथ राष्ट्रीय स्पर पर कांग्रेस का प्रभुत्व समाप्त हो जाता है। आगे 12वीं तथा 13वीं लोकसभा के चुनाव में भी भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले गठबंधन के द्वारा केन्द्र में सरकार का गठन किया गया। उक्त तीन लोकसभा के चुनावों ने भारतीय राजनीति का संतुलन क्षेत्रीय दलों की तरफ मोड़ दिया। क्षेत्रीय दल और उनके नेता किंग मेकर्स बनकर उभरे। केंन्द्र में गठबंधन सरकार के कारण क्षेत्रीय दलों को बनको मिली सीटों से ज्यादा महत्व प्राप्त हुआ। राज्य स्तर पर अभिकर्ता राज्यों में इस दौर में क्षेत्रीय दलों की सरकारों का निर्माण हुआ तथा क्षेत्रीय दल राज्य रानीति में महत्वपूर्ण शक्ति के रुप में उभरे।

भारतीय जनता पार्टी जैसे राष्ट्रीय दल ने भी राज्य स्तरीय दलों के महत्व कों स्वीकार करतें हुये 1998 में कई क्षेत्रीय दलों के साथ मिलकर राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एन.डी.ए.) का निर्माण किया। राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों के बढ़तें प्रभाव कांग्रेस ने भी क्षेत्रीय दलों के साथ मिलकर संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.) का गठन 2004 में किया। इस गठबंधन के निर्माण के साथ ही भारतीय दलीय व्यवस्था व्यवहारिक रुप से पूर्ण रुप में पूर्ण रुप में बहुदलीय व्यवस्था के रुप में कार्य करना शुरु करती है। इसमें कांग्रेस तथा भातीय जनता पार्टी दो राष्ट्रीय स्तर के दल तथा कई क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण भूमिका देखने

को मिलती है। इसीलिए 2004 के आम चुनाव से लेकर 2014 के लोक सथा चुनाव तक क्षेत्रीय दलों के साथा बनाये गये गठबंधनों के तहत राष्ट्रीय दलों के द्वारा चुनाव में प्रतिभाग किया गया। इन चुनावों में 2004 तथा 2014 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस तथा भारतीय जनता पार्टी को क्रमशः पूर्ण बहुमत मिलने के बावजूद भी क्षेत्रीय दलों के महत्व को ध्यान में रखतें हुये इन दलों ने गठबंधन सरकारों का गठन किया। इस प्रकार भारतीय दलीय व्यवस्था जिसकी शुरुआत एक दलीय प्रभुत्व वाली बहुदलीय व्यवस्था से होती है, वर्तमान में एक लंबे विकास क्रम से गुजरते हुये बहुदलीय व्यवस्था का स्वरुप ग्रहण कर चुकी हैं।

बोध प्रश्न 4

(1) नीचे दी गई जगह में उत्तर लिखें।

(2) उन्हें इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

....
....
....
....
....
....
....

18.7 सारांश

भारतीय दलीय व्यवस्था जिसकी उत्पत्ति 1885 में कांग्रेस की उत्पत्ति के साथ होती है, एक लंबा सफर तय करके कई उतर–चढ़ाव के पश्चात वर्तमान स्थिति में पहुँची है। स्वतंत्रता के पश्चात जो दलीय व्यवस्था एक दलीय प्रभुत्व वाली दलीय व्यवस्था के रुप से जानी जाती थी, अब पूर्ण रुप से बहुदलीय व्यवस्था बन चुकी हैं। इसमें राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस तथा भारतीय जनता पार्टी दो राष्ट्रीय दलों के साथ कई क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारण में ही सिर्फ महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर रहे बल्कि इनका नेतृत्व भी राष्ट्रीय स्तर का है, जिसमें समाजवादी पार्टी, दल यूनाइटेड, राष्ट्रीय जनता दल तृणमूल कांग्रेस आदि प्रभुत्व है।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

श्रजनी कोठारो (संपादित), 1987 इलेक्शन एंड पार्टी सिस्टम इन इंडिया जोया हसन (संपादित) 2006, पार्टीज एंड पार्टी पॉलिटिक्स इंन इंडिया आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली, नीरजा गोपाल जमाल, प्रताप भानू मेहता (संपादित) 2011 पॉलिटिक्स इन इंडिया, आक्सॅफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली जे. आर. सीवाच, 1990, इंडियन गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स स्टर्लिग पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. देखे– 18.2

बोध प्रश्न–2

1. ख द्विदलीय
2. देखें 18.3

बोध प्रश्न–3

1. देखें 18.4

बोध प्रश्न–4

1. देखें 18.5

इकाई–19

प्रमुख राष्ट्रीय दल – सिद्धान्त, सामाजिक आधार और संगठन

इकाई की रुपरेखा –

19.0 **उद्देश्य**

19.1 **प्रस्तावना**

19.2 **प्रमुख राष्ट्रीय दलों की मान्यता का आधार**

19.3 **प्रमुख राष्ट्रीय दलों का सिद्धान्त**

19..4 **राजनीतिक दलों के सामाजिक आधार और संगठन**

19.5 **निष्कर्ष**

19.6 **सारांश**

19.7 **कुछ उपयोगी पुस्तक**

19.8 **बोध प्रश्नों के उत्तर**

19.0 उद्देश्य

इस ईकाई भारत के प्रमुख राष्ट्रीय दलों के सिद्धान्त सामाजिक आधार और संगठन की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- किसी प्रतिनिधिमूलक राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में राजनीतिक दलों की महती भूमिका का पता लगा सकेंगे।
- भारत के प्रमुख राष्ट्रीय दलों की मान्यता के आधार से परिचित हो सकेंगे।
- भारत के प्रमुख राष्ट्रीय दलों के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- भारत की राजनीकि व्यवस्था को संचालित करने वाले प्रमुख राष्ट्रीय दलों के सामाजिक आधार व सरोकार का वि"लेषण कर सकेंगे।
- प्रमुख राष्ट्रीय दलों के संगठन एवं कार्य व व्यवहार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल प्रजातंत्र की आधारशिला होते हैं इनके विना प्रजातंत्र जीवित नहीं रह सकता है। चूँकि राज्यों की वृहत जनसंख्या और क्षेत्र की विशालता के कारण वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी राज्यों में

प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था ही प्रचलित है। जिसमें जनता द्वारा अपनें चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन व्यवस्था का संचालन किया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इसलिए इसे ''प्रजातंत्र का प्राण'' कहा जाता है। वस्तुतः राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतंत्र सम्भव ही नहीं है सकता। फाइनर ने कहा है कि 'राजनीतिक दल अमूर्त मतदाताओं को मूर्त रुप देते है।''

भारत में प्रथम आम चुनाव से पूर्व राष्ट्रीय स्तर पर अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण किया गया, लेकिन स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करने वाला राजनीतिक दल ही देश की राजनीतिक व्यवस्था पर छाया रहा वह दल है 'कांग्रेस' इसीलिएपामर ने कांग्रेस पार्टी को ''राष्ट्रीय आन्दोलन विकासित राजनीतिक दल'' कहा है स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले भारत में अनेक राजनीतिक दलों का उदय हुआ, लेकिन सिर्फ वे ही दल जीवित रह सके जो कुछ सिद्धान्तों तथा स्पष्ट नीतियों पर आधारित थे। वर्गीय तथा स्थानिय दलों का विकास नहीं हो पाया।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद दलीय पद्धति ने ठोस आकार लेना शुरु किया। भारत में सदैव ही बहुदलीय व्यवस्था रही है। इस बहुदलीय व्यवस्था का विकास ''बहुदलीय व्यवस्था में एक दल की प्रधानता'' से ''प्रधानता के लिए दो राजनीतिक दलो'' या ''दो राजनीतिक गठबन्धनों में प्रतियोगिता'' की दिशा में हुआ है।

यह इकाई भारत के प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दल के सिद्धान्तो की विवेचना करती हैं तदुपरांत यह भारत की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों को सामाजिक आधार एवं संगठन की चर्चा करती है साथ ही वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव की भी विवेचना करती है।

19.2 प्रमुख राष्ट्रीय दलो की मान्यता का आधार

राष्ट्रीय दल के रुप में मन्यता का आधार– 'चुनाव चिन्ह (संरक्षण और आवन्तन आदेशा 1968' में चुनाव आयोग द्वारा 2 दिसम्बर, 2000 ई. को महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए थे, अब 14 मई, 2005 ई. को इसमें पुनः परिवर्तन किए गए। अब किसी दल को राष्ट्रीय दल की मान्यता तभी प्राप्त होगी, जबकि वह निम्न तीन में से कोई एक शर्त पूरी करता हो :

1. गत लोकसभा चुनाव या राज्य विधानसभा चुनावों में सम्बन्धित दल के उम्मीदवार चार या अधिक राज्यों में से प्रत्येक में प्रयुक्त वैध मतों का कम–से–कम 6 प्रतिशत पाप्त करें तथा इनमें सें किसी एक राज्य या राज्यों से उसके कम–से–कम चार सदस्य लोकसभा के लिए निर्वाचित हों।

2. गत आम चुनावों में वह दल लोकसभ की कुल सदस्य संख्या के कम–से–कम दो प्रतिशत स्थान प्राप्त कर ले, बशर्ते कि ये लोकसभा स्थान कम–से–कम तीन राज्यों से प्राप्त किए गए हों।

3. यदि दल को कम–से–कम चार राज्यों में राज्य दल की मान्यता प्राप्त हो। चुनाव आयेग ने अपनी विज्ञप्ति में कहा है कि इस विज्ञप्ति को 1 मार्च 2004 ई0 से कार्य रुप मे लागू समझा जाए।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव परिणामों तथा उसके उपरान्त की राजनीतिक स्थिति को दृष्टि में रखतें हुए चुनाव ओयोग ने 6 राजनीतिक दलों को 15वीं

लोकसभा चुनाव के सन्दर्भ में राष्ट्रीय दल के रुप में मान्यता प्रदान की है। ये दल हैः बहुजन समाज पार्टी राष्ट्रीवादी कांग्रेस पार्टी।

19.3 प्रमुख राष्ट्रीय दलों के सिद्धान्त

निर्वाचन आयोग ने 1957 ई. के निर्वाचन में चार दलों को राष्ट्रीय दल के रुप में स्वीकृत प्रदान की– कांग्रेस, प्रजा समाजवादी दल, साम्यवादी दल तथा जनसंघ। 1962 के बाम चुनाव में इन चार दलों के अलावा एक अन्य दल – स्वतंत्र दल को भी अखिल भारतीय दल के रुप में स्वीकार किया गया।

चतुर्थ आम चुनाव 1967 में अन्य दलों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुए। ये दल थे – संयुक्त समाजवादी दल तथा साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)। इसप्रकार 1971 में अब प्रमुख राष्ट्रीय दल थे। कांग्रेस, प्रजा समाजवादी दल, संयुक्त समाजवादी दल साम्यवादी दल, साम्यवादी दल (मार्क्सवादी), जनसंघ, स्वतंत्र दल। मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के परिणाम स्वरुप दलों की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन आया। कांग्रेस की करारी हार हुयी और कई विरोधी दलों ने मिलकर जनता पार्टी का निर्माण किया जो सत्तारुढ़ हुयी। इसप्रकार ये चार दल थे जनसंघ, भारतीय लोकदल समाजवादी दल और संगठन कांग्रेस जो समाप्त हो कर जनता पार्टी के रुप में संगठित हो गये। इन दलों की ताकत का विश्लेषण लोकसभा तथा विधान सभाओं के संगठन के अन्तर्गत किया गया। 1980 के आम चुनाव में पुनः कांग्रेस सत्तारुढ़ हुयी और अन्य राष्ट्रीय पार्टियों में जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, भारतीय लोक दल और साम्यवादी पार्टिया रह गयी इनके अलावा दर्जनों क्षेत्रीय दल भी रहे। अखिल भारतीय दलों के अतिरिक्त अन्य कई स्थानीय तथा वर्गीय दलों का अस्तित्व भारत में कायम हैं। आम चुनाव के अवसर पर अनके स्थानीय दलों का भी निर्माण होता है जिसके चलते भात में राजनीतिक दलों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गयी हैं। अब हम भारत के प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के सिद्धान्त की चर्चा करेंगे–

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस – स्वतंत्रता प्राप्ति के मूर्व कांग्रेस का लक्ष्य देख के को आजाद कराना था। अतः यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करती थी। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता को विदेशी शासन से मुक्त कराना तथा उसके खिलाफ उन्हे जगाना था। आजादि हासिल कने के बाद कांग्रेस का नया संविधान अप्रैल 1948 ई. में अपनाया गया। इसमें कांग्रेस के उद्देश्यों एवें सिद्धान्तों को बताया गया। इसका प्रमुख सिद्धान्त–भारतीय जनता का हित तथा प्रगति और सहकारी कॉमनवेल्थ की शांतिपूर्ण तथा वैद्यानिक तरीके से स्थापना है।

आरम्भ में कांग्रेस पार्टी और सामाजवादी राजनीतिक दलों के बीच स्पष्ट विभेद था लेकिन धीरे–धीरे 'सामाजवाद ढंग के समाज' की स्थापना के नारे से आरम्भ करके 1971 में 'गरीबी हटाओं' की आवाज उठाकर कांग्रेस ने भी समाजवादी चोला धारण कर लिया और 1975 में कांगेस शासन काल में ही संविधान में संशोधन करके उसकी प्रस्तावना में भारत को एक समाजवादी राज्य घोषित कर दिया। यद्यपि कांग्रेस ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त को अपनाया किन्तु अपने लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों की दृष्टि से वर्तमान में कांग्रेस पार्टी भी समाजवादी दलों के निकट दिखाई देती हैं।

जनता पार्टी – 1 मई 1977 को देश की राजनीति में जनता पार्टी के उदय के साथ नई सुबह आयी। जनता ने इस दल का सर्वत्र हार्दिक स्वागत किया। इस नये दल से जनता को बड़ी–बड़ी आशाएँ थी। आशा थी कि नया दल

एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयास करेगा जिसमें ऊँच–नीच, हिन्दू–मुसलमान का कोई भेद नहीं हो, जिसमें न कोई शोषित हो, सभी को शिक्षा, रोजगार आदि के समान अवसर प्राप्त हो, देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में जो बुराइयों घर किये बैठी है उन्हें दूर करने के लिए जनता पार्टी और उसकी सरकार को ठोस प्रयास करना होगा। तभी गाँधी के सपनों का भारत बनेगा और जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रान्ति का स्वप्न साकार होगा।

जनता पार्टी के नीतियो एवं कार्यक्रमों का ब्योरा उसके चुनाव घोषणा पत्र में पाया जाता है। 10 फरवरी 1977 को नई दिल्ली में जनता पार्टी के उपाध्यक्ष चौधरी चरण सिंह ने अपने दल का चुनाव घोषणा–पत्र जारी किया। इस अवसर पर उन्होनें पत्रकारों को बाताया कि जनता पार्टी समाजवाद में विश्वास करती हैं। मगर यह समाजवाद सत्तारुढ़ दल के समाजवाद से बिल्कुल भिन्न है। इसका आधार गाँधीवाद है अर्थात अर्थतंत्र तथा प्रशासन का पूर्ण विकेन्द्रीकरण। इसका माना है कि भारत का प्रमुख उद्योग कृषि है और इसलिए इसको प्राथमिक्ता दी जाये। उद्योगों में भरी उद्योगों की अपेक्षा छोटे और ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाये। श्री चरण सिंह ने कहा कि राज्यो की स्वायत्तता को पुनः स्थापित किया जायेगा। इस समय राज्य सरकरें जिला परिषदों के स्तर तक गिर गई है। उनके अनुसार जनता पार्टी के सभी घटक अब एक ही दल में संगठित हो गये हैं इस कानूनी रुप से अन्तिम शक्ल चुनाव के तुरन्त बाद दी जायेगी। इस दल ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का बहिष्कार, रोजी–रोटी का मौलिक अधिकार, गाँधीवादी आस्था के अनुसार अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर बल दिया हैं।

सामाजिक आधार के रुप में जनता पार्टी माघ्यमिक शिक्षा तथा अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था, निरक्षरता की समाप्ति, सभी के लिए पीने योग्य पानी की व्यवस्था, राष्ट्रीव्यापी स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमा, ग्राम विकास का नया आन्दोलन, रास्ते दामों के मकान और सार्वजनिक आवस व्यवस्था, नगर विकास के लिए एक वैज्ञानिक नीति, सामाजिक बीमें की एक बड़ी योजना, जनसंख्या के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर परिवार नियोजन, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए पूर्ण अधिकार, भ्रष्टाचार का अन्मूलन, नारी आधिकार तथा युवा वर्ग की समृद्धि, गरीबों के लिए कानूनी सहायता और कम खचींली न्याय व्यवस्था तथा जनता की स्वालम्बी कर्मठता को प्रोत्साहन देता है।

संगठन कांग्रेस – सिद्धान्त रुप में सत्तारुढ कांग्रेस अधिक समाजवादी नीतियों तथा सुधारों के पक्ष में थी और इसका झुकाव साम्यवादी व प्रगतिशील दलों की और था। जबकि विरोधी कांग्रेस जनसंध तथा स्वतंत्र दल जैसे प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ गठबंधन कर रहीं थी। कांग्रेस (विरोधी) दक्षिणपंथी दलों के महान गठबंधन (Grand alliance) में शामिल हो गयी। लोकसभा चुनाव में सत्तारुढ़ कांग्रेस ने 350 स्थान प्राप्त करते हुए अप्रत्याशित सफलता अर्जित की, जबकि संगठन कांग्रेस ने आन रही–सही ताकत खो दी। उसके बचे खुचे गढ़ समाप्त हो गये। 1974 में अपनें गढ़ उत्तर प्रदेश में इसने घुटने टेक दिये। इसे केवल 10 स्थान प्राप्त हुए जबकि पहले इसके 37 सदस्य थे। चुनाव में भारी हार कारण संगठन कांग्रेस की रीढ़ टूटती नजर आने लगी, धीरे–धीरे यह बिखरने लगा।

संगठन कांग्रेस ने अपनें सामाजिक तथा आर्थिक आधारों का उल्लेख करते हुए कहा कि–समाज के निर्धन व दुर्बल वर्गो और उनकी समस्याओं के समाधान में नियोजन द्वारा ध्यान दिया जाना चाहिए तथा प्रत्येक स्त्री और पुरुष को पूर्ण

रोजगार तथा काम का आधार प्रदान हो। आम जनता के लिए सरल तकनीकि ज्ञान को अपनाया जाये। उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाने और विविधता प्रदान करने के लिए और कृषि गृह एवं छोटे उद्योगों, पशु–विकास मत्स्य–पालन आदि के क्षेत्र में अधिकाधिक रोजगार प्रदान करने के लिए एक गाँव या गाँवों के समूह को योजना को केन्द्र बनाया जाना चाहिए। प्रजातंत्र को खतरे से बचाने के लिए राजनीति को नैतिक आधार प्रदान करना होगा जिसके लिए मतदाताओं को उचित शिक्षा प्रदान करना और निष्पक्ष चुनाव के लिए परिस्थितियों का निर्माण करना आवश्यक है। यह दल वृहत् उद्योग, निजी या सार्वाजनिक, द्वारा सामाजिक और आर्थिक माँगों की संतुष्टि और पूँजी तथा श्रम के बीच विरोध की समाप्ति पर बल देता हैं।

यह दल अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का विरोधी तथा गाँधीवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादक था। इस दल का उद्देश्य कोई रचनात्मकता नहीं था, इसका आधार केवल ''इन्दिरा विरोध'' था। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश वृद्ध तथा उच्च कोटि के नेता इसी दल में थे। यह दल प्रजातंत्र विरोधी दलों का एक संयुक्त मोर्चा कायम करना चाहता था। प्रतिक्रियावादी तथा दक्षिणपंथी दलों के गठबन्धन के कारण संगठन कांग्रेस की लोकप्रियता नही के बराबर रह गयी जिस कारण इसे 'जनता का संगठन' नहीं बल्कि नेताओं का संगठन कहा जाने लगा इस समय पार्टी का कोई अस्तित्व नहीं है।

साम्यवादी दल – हिंसक तरीकों की असफलता तथा चीन में साम्यवादियों की विजय में भारतीय साम्यवादियों को भी अपना दृष्टिकोण बदलने को मजबूर किया। उन्होनें हिंसक तरीको को छोड़ना उचित समझा तथा कृषि की समस्याओं पर अधिक ध्यान देने का निश्चय किया। 1951 के आम चुनाव तक यह कांग्रेस को प्रजातान्त्रिक तथा पूंजीपतियों की संस्था कहती थी किन्तु इसी बीच भारत कही वैदिशक नीति में भारी परिवर्तन आया और सोवियत रुस तथा साम्यवादी चीन से इसका गहरा एवं मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुआ। साम्यवादी देशों ने सांविधानिक तरीको में आना विश्वास प्रकट करना शुरु किया तथा पंचशील के सिद्धान्त को अपनाया। फलतः भारतीय साम्यवादी दल के रुप में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आया इसने कांग्रेस की वैदेशिक नीति का समर्थन किया तथा पंचवर्षीय योजनओं द्वारा देश की उन्नति के प्रयास की सराहना की। तीसरे आम चुनाव के बाद साम्यवादी दल के उग्रवादी नेताओं ने इस दल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर नये दल का निर्माण किया जिसका नाम साम्यवादी (मार्क्सवादी) रखा।

अखिल भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) –सिद्धान्त रुप से एक लम्बे समय तक मार्क्सवादी दल भाजपा और कांगेस दोनों के प्रति 'समान दूरी की नीति' पर बल देता रहा है लेकिन 1998 से मार्क्सवादी दल ने समान दूरी की नीति का त्याग करते हुए भजपा को सत्ता से दूर रखने के लिए कांग्रेस को समर्थन देने की नीति घोषित कर दी तथा 1999 में ही यह भी घोषित कर दिया गया कि उन्हें सोनिया गाँधी के प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने पर कोई ऐतराज नहीं है। पार्टी ने परोक्षरुप में यूपीए सरकार की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया। 2004 ई. में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का गठन हुआ और मार्क्सवादी दल के नेतृत्व में समस्त वामपंथ ने सरकार में भागीदारी न करते हुए सरकार को बाहर से समर्थन देने की नीति अपनायी किन्तु 2008 के बाद से ही मार्क्सवादी दल और वामपंथ ने कांग्रेस मोर्चे का गठन किया। इस मोर्चे का घोषित लक्ष्य था– गैर कांग्रेसी, गैर भजपा धर्मनिरपेख सरकार का गठन। मार्क्सवादी दल उन विरोधी दलों के साथ जहाँ सम्भव हो, समझौता करके दलों के साथ सहयोग

करने के लिए तैयार है जो प्रजातंत्र के लिए लड़ने के लिए तैयार है। इसका प्रभाव क्षेत्र बंगाल व केरल तक सीमित है।

भारतीय जनता पार्टी – चतुर्थ आम चुनाव के अवसर पर देश की बिगड़ती हालत के लिए कांग्रेसी शासन को उत्तरदायी ठहराया गया। इसके अनुसार देश को एक प्रगतिशील दल चाहिए और यह स्थान वही दल ले सकता है जिसके सिद्धान्त सत्य, नीतियां स्पष्ट और कार्य सुनिश्चित हो जिसकी जड़े जनता में गहरी हो और संगठन व्यापक हो। इस अपेक्षा को पूर्ण करने के लिए जनसंघ का जन्म हुआ। भारतीय जनसंघ का वह मानना था कि राष्ट्र की सुरक्षा तथा जनता की रोटी, कपडे, मकान, आदि की प्राथमिक आवश्यकतओं की शर्त के विषय किसी वाद से नही बंधा है। वाद से न तो भूख का दमन होता है और न आक्रमणकारी और आसूरी तत्वों का दमन।

वर्तमान भारतीय जनता पार्टी ने गाँधीवादी को अपना दार्शनिक तथा आर्थिक आधार बनाया है। यह अपने को धर्मनिरपेक्ष बताती है और इसी में अपनी छवि उभारने की कोशिश कर रही है। लेकिन साथ ही साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आना सांस्कृतिक अंग भी मान हरी है। दल ने अपनी नीतियों के बारे में कई बाद चिंतन किया, लेकिन गाँधीवादी समाजवाद को ही आना केन्द्र बनाकर सक्रिय बना हुआ है। इसने बई बार चिंतन किया, लेकिन गाँधीवादी को ही आपना केन्द्र बनाकर सक्रिय बना हुआ है। इसमें 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केन्द्र में सरकार बनायी तथा भारतीय राजनीति में गठबंधन का नया युग आरम्भ हुआ।

प्रजा समाजवादी दल – प्रजा समाजवादी दल समाजवाद में विश्वास करता है। यह कांग्रेस की मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति के विरुद्ध है। यह राष्ट्रीयकरण का प्रबल समर्थक है। यह श्रमिकों तथा कृषकों के जीवन स्तर में द्रुतगति से वृद्धि चाहता हैं कृषि सुधार इसका प्रमुख नारा हैं। गृह नीति के अर्न्तगत यह नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा, राष्ट्रीपति की आपातकालीन शक्ति पर प्रतिबन्ध तथा निजी सम्तत्ति को कब्जाकृत करने के रुप में विकास प्रमुख नीति है। वैदेशिक मामलों के सम्बन्ध में यह तटस्थता की नीति का समर्थन करता है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद को अपना लेने की वजह से दोनों दलों में अब कोई अन्तर नहीं रह गया है।

स्वतंत्र दल – स्वतंत्र दल कांग्रेस को अधिनायकवादी संगठन मानता है। यह योजनाकरण राष्ट्र्यकरण सहकारी खेती तथा भूमि के पुनर्वितरण की नीति का विरोध करता है। इसके अनुसार कांग्रेस की सुनियोजित तथा केन्द्रीकृत आर्थिक नीतिया समाजवादी प्रणाली पर आधारित है। यह दल व्यक्तिवाद और व्यक्ति की आर्थिक दशा बिगढती चली आ रही है।

स्वतंत्र इल मार्क्सवाद समाजवाद के विरुद्ध गाँधीवादी समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। प्रगतिवादियों ने स्वतंत्र दल को प्रतिक्रियावादी अनुदारवादी तथा पिछड़ा कहा है। पण्डित नेहरु ने इस दल को स्वतंत्र व्यवसाय की राजनीतिक अभिव्यक्ति कहा था। अगस्त 1974 में यह दल भारतीय लोक दल में विसर्जित हो गया जो आगे चलकर जनता पार्टी में विलीन हो गया।

संयुक्त समाजवादी दल – संयुक्त समाजवादी दल विचारधारा के आधार पर कांग्रेस का कट्टर विरोधी है तथा अन्य दलों के गठबन्धन को पदच्युत करने में विश्वास करता है। यह दल कांगेस की आर्थिक तथा वैदेशिक नीति का कड़ा आलोचक है। इसके निजी, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम है– भूमि का

पुनर्वितरण, आर्थिक असमानता को दूर करना उद्योगों का राष्ट्रीयकरण राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद, सीमावर्ती क्षेत्रों के लिए चीन तथा पाकिस्तान के प्रति कड़ा रुख आदि। दल पिकेटिंग (Bundh) व्यवस्थापिकाओं में हल्ला–गुल्ला आदि तरीकों में विश्वास करता है। उग्र आन्दोलन के अतिरिक्त यह दल प्रजातान्त्रिक यन्त्रों तथा निर्वाचन पद्धति में विश्वास रखता है। डा0 लोहिया में इन दोनों प्रकार के तरीकों को 'तक्र और शक्ति का समन्वय' कहा है। जो भारतीय समाज के परिर्वतन के लिए अवश्यक है। इस दल के प्रमुख नेता डा0 राम मनोहर लोहिया थे।

भारतीय लोक दल– भारतीय लोक दल का आधार गाँधीवाद था। यह गैर कांग्रेसी और गैर कम्युनिस्ट विचारों के प्रति समर्पित लोगों का मंच था। मूलभूत सिद्धान्त के रुप में इसमें लोकतंत्र राष्ट्रवादिता धर्म–निरपेक्षता, सर्वधर्म सम्भाव और सामाजिक न्याय को चार पाये के रुप में स्वीकार किया। अपनी आर्थिक और सामाजिक प्रतिबद्धताओं की व्याख्या करतें हुए नीति षिषयक मसौदे में कहा कि नेहरु की नीति को उलटना अनिवार्य है यानी प्राथमिकता वृहद उद्योग को न देकर कृषि को दी जाये। लघु कुटीर व वृहद उद्योगों पर उसके बाद विचार किया जाये। पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही को देश के सामाजिक और आर्थिक विकास के संदर्भ में अर्थहीन मानता हैं। यह दल महात्मा गाँधी द्वारा निर्वेशित अर्थव्यवस्था में विश्वास करता है।

अखिल भारतीय हिन्दू महासभा– इस दल का प्रमुख नारा है – 'अखण्ड भारत'। सिद्धान्त रुप में वह भारत देश की संस्कृति और परम्परा के अनुसार प्रजातन्त्रिक राज्य की स्थापना करना चाहता है। समान अधिकार समान अवसर तथा समान उत्तरदायित्व इस दल का आधार है। इसका एक प्रमुख कार्यक्रम–' गोरक्षा करना तथा गोवध की समाप्ति है।

नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी (राष्ट्रीवादी कांग्रेस पार्टी) –कांगेस से निकाले गये तीन नेताओं (पवार, संगमा और ताहिक अनवर) ने नई पार्टी का गठन कर अपनी पार्टी का नाम नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी रखा है। इन नेताओं का मुख्य मुद्दा था–़ राष्ट्रपति, उत्तराष्ट्रपति और प्रधानमंत्री जैसे उच्च पदों पर असीन होने का अधिकार केवल उन्ही व्यक्तिओं को होना चाहिए जो भारत के जन्मत नागरिक (मूल नागहिक) है। इस नयील पार्टी ने इस मुद्दे को राष्ट्रीय पहचान और प्रतिष्ठा से जोड़ते हुए कहा कि इस पर किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता है अतः भारतीय पहचान, भारतीय भावना और भारतीय प्रतिष्ठा को बनाये रखना, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को मजबूत करना लोकतंत्र को मजबूत बनाना, सामाजिक न्याय के संघर्ष को जारी रखना तथा देश के धर्मनिरपेक्ष स्वरुप को बनाये रखना आदि इस पार्टी के प्रमुख सिद्धान्त थे। यह भी कहा गया कि यह पार्टी भाजपा और कांग्रेस से दूरी बनाकर चले गये। पार्टी धर्मनिरपेक्ष दलों से सहयोग कर सकतीा है शरद पावर इस पार्टी के अध्यक्ष हुये और संगमा तथा तारिक बनवर महासचिव।

बहुजन समाज पार्टी – इस पाटी की स्थापना 14 अप्रैल 1984 को उत्तर प्रदेश में हुयी थी। उस समय से लेकर अब तक इस पार्टी के सबसे प्रमुख नेता रहे काशीराम और मायावती। एक पार्टी के रुप में बसपा दलितों और पिछड़ों को संरक्षण देने वाली पार्टी हरी हैं काशीराम के अनुसार–हमारा उद्देश्य सर्वाजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उच्च जातियों के प्रभुत्व को समाप्त करना और दलितों को संक्ष्या के अनुपात में सत्ता में भगीदारी दिलाना है। 1998 तक बहुजन समाज पार्टी द्वारा दलित हितों की पूरी प्रबलता के साथ नुमायन्दगी की गयी तथा सवर्ण हिन्दू वर्ग का खुला अपमानजनक विरोध किया जाता रहा किन्तू 1999 के तेरहवीं

लोकसभा के चुनाव से बसपा की चुनावीं नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। वह यह कि काशीराम तथा मायावती ने सवर्ण हिन्दू वर्ग के प्रति खुले विरोध की भावना का त्याग कर दिया। इस चुनाव अभियान में बसपा द्वारा **सर्व समाज** का नारा लगाया और विविध जातियों के बीच **जाति जोड़ो** अभियान और **भाईचारा** अभियान चलाने की बात कही। 2005 से बसपा दल तिलक (ब्राहम्ण वर्ग) तराजू (वैश्य वर्ग) और तलवार (राजपूत वर्ग) इन तीनों जाति वर्गो को अपने निकट लाने के लिए अभियान चलाया और इसमें वह आशिक रुप से सफल रही।

मायावती के नेतृत्व पंद्रहवीं लोकसभा चुनाव में बसपा दल ने बहुजन से सर्वाजन का मार्ग तय किया था और इसने उ0 प्र0 के बाहर भी कुछ प्रभाव क्षेत्र प्राप्त कर लिए थे। मायावती ने इस लोकसभा चुनाव में मुख्यता दो बातों पर बल दिया, प्रथम निर्धन अगड़ों (सवर्ण हिन्दूओं) को भी आरक्षण द्वितीय प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार। इस चुनाव में बसपा अपेक्षित परिणाम हासिल नहीं कर सकी तथा उसकी ताकत में भारी कमी आयी। शासक दल के रुप में बसपा की नीति रीति तथा नेता में मायावती के व्यवहार और आचरण को जनता ने पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है।

19.4 राष्ट्रीय दलों के सामाजिक आधार और संगठन

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सगंठन – 1947 ई0 से पहले कांग्रेस देश के सभी वर्गो की प्रतिनिधि संस्था नहीं थी। निम्न तथा मध्य वर्ग मजदूर, व्यापारी, सरकारी, कर्मचारी, वकील तथा व्यवसायी इसके समर्थक थे। जमींदार तथा देशी राज्य इसके कट्टर विरोधी थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह इन वर्गो का समर्थन प्राप्त करने में सफल रही हैं। 1952 ई0 के आम चुनाव में इसे 45 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।

कांग्रेस के संगठन का ढ़ांचा कम से कम दिखावे में पूर्णरुपेण जनवादी है तथा इसकी इकाई देश के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तृत है। कांग्रेस की सदस्यता तीन प्रकार की होती हैं–

प्रथम प्राथमिक सदस्यता (Primary membership) 18 वर्ष या इससे अधिक उम्र के सभी व्यक्तियों के लिये खुली हुई है। इन्हें केवल कांग्रेस के सिद्धान्तो के प्रति विश्वास की लिखित घोषणा करनी पड़ती है तथा पाँच रुपये वार्षिक चन्दा के रुप में देने पडतें है। द्वितीय शर्तपूर्ण सदस्यता (Qualified membership) उन व्यक्तियों तक सीमित है जो विभिन्न समुदायों के बीच एकता तथा सभी के लिए समान स्तर तथा समान अवसर के सिद्धान्त में विश्वास सखतें है। तृतीय प्रभावपूर्ण सदस्यता (Effective membership) उन लोगों तक सीमित है जो हमेशा कांग्रेस के कार्यक्रमों के कार्यन्वयन के लिये कुछ समय देते है। वे प्राथमिक सदस्य, जो कम से कम दो वर्षो तक सदस्य रह चुके हो, प्राथमिक पंचायत (Primary Congress Panchayat) है जिसे ग्राम या मुहल्ला समिति कहते है। प्रत्येक गाँव या मुहल्ला, जिनकी जनसंख्या कम से कम 500 हो, ग्राम कांग्रेस समिति की स्थापना कर सकते है।

ग्राम कांग्रेस पंचायत के ऊपर ताल्लुक और तहसील कांग्रेस समितियाँ रहती है। संबंधित क्षेत्रों की जिला कांग्रेस समिति के सदस्य इन समितियों के पदेन (Ex-Officio) सदस्य होते है। प्रत्येक जिले में एक साधारणतः प्रत्येक राज्य में एक प्रदेश कांग्रेस समिति (Provicial Cangress Committee) रहती हैं। कभी–कभी एक राज्य के अन्दर ही कई प्रान्तीय समितियों का निर्माण किया जाता है जैसे –

आँध्र प्रदेश में समितियों में कांग्रेस द्वारा निर्धारित विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुनकार आते है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या लगभग एक लाख होती है। कांग्रेस का अध्यक्ष इस समिति का पदेन सदस्य होता है। प्रदेश समितियाँ अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कांग्रेस सम्बन्धी हर प्रकार के मामलों को देखती है। अगर वे कांग्रेस संविधान का उल्लंघन करती है तो उन्हें निलम्बित (Suspend) कर तदर्थ (Adnoc) समितियों का निर्माण किया जा सकता है।

सम्पूर्ण देश के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति रहती है। इसमें तीन प्रकार के सदस्य रहते हैः निर्वाचित (Elected),insu (Ex-Officio) तथा अधीनस्थ संगठनों (Affileated Organization) के प्रतिनिधि। निर्वाचित सदस्य जिनकी संख्या का भाग 1/13 है, प्रान्तीय समिति के सदस्यों के द्वारा के द्वारा चुने जाते है। कांग्रेस का अध्यक्ष तथा इसके भूतपूर्व अध्यक्ष पदेन सदस्य होते है। अधीनस्थ संगठनों के प्रतिनिधियाँ की संख्या पाँच प्रतिशत से अधिक होनी चाहिए।

कांग्रेस संगठन की सर्वोच्च संस्था उनकी कार्यकारिणी समिति है जिसमें अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष सचिव तथा 18 सदस्य होती है। कांग्रेस का अध्यक्ष तथा उसकी कार्यकारणी अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के प्रति उत्तरदायी होते है। अध्यक्ष का चुनाव प्रतिनिधयों के द्वारा वरीय प्रणाली द्वारा होता है तथा सदस्य प्रान्तीय कांग्रेस समितियों द्वारा निर्वाचित होते है। विजयी उम्मीदवार को कम से कम 30 प्रतिशत मत अवश्य प्राप्त होना चाहिए। आकास्मिक रुप से रिक्त स्थान को इस प्रक्रिया से या अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा भरा जाता है। केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति कांग्रेस का सर्वोच्च अंग तथा सर्वोच्च नीति नियन्ता समिति है।

अध्यक्ष दलीय संगठन का प्रमुख है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्यों में से वह कार्यकारिणी समिति का गठन करता है। इसमें मंत्रियों की संख्या एक – तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिये। कार्यकारिणी समिति दल की सर्वोच्च कार्यपालिका है। वह अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के प्रति उत्तरदायी होती है जिसे दलीय संसद कहा जा सकता है। कार्यकारिणी समिति सभी मामलों के सम्बन्ध में अखिल भारतीय समिति की स्वीकृत से नियम बनाती है। अखिल भारतीय समिति को छोड़कर अन्य समितियों का यह अधीक्षण और निर्देशन करती है।

यह अखिल भारतीय समिति के लेखा–जोखा की जाँच करती है, किसी प्रकार की जाँच– हड़ताल करवा सकती है तथा सदस्य या समिति के विरुद्ध अनुशासनिक कारवाई कर सकती है इसकें अतिरिक्त कार्यकारिणी समिति संसदीय बोर्ड (Parkiamentary Board) का चुनाव काती है तथा कांग्रेस व्यवस्थापिका दलों (Congress Legislative Parties) के संसदीय कार्यो को नियन्त्रित करती है। कांग्रेस अध्यक्ष सचिवों की नियुक्ति करता है जो अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कार्यालय की देख–रेख करते है तथा अध्यक्ष को उसके कार्यो में सहायता प्रदान करते है।

केन्द्रीय निर्वाचन समिति (Central Election Committee) कांग्रेस की एक प्रमुख संस्था है। संसदीय बोर्ड के सदस्य तथा अखिल भारतीय समिति द्वारा निर्वाचित पाँच व्यक्ति इसके सदस्य होते है। यह संसद तथा राज्य विधान मंडलो के लिए उम्मीदवारों का चयन करती है तथा चुनाव अभियान का निर्देशन करती है। राज्यों में भी निर्वोचन समितियां होती है।

हर प्रादेशिक समिति एक निर्वाचन न्यायाधिकरण (Election Tribunal) की नियुक्ति करती है। इसके सदस्य कांग्रेस के अन्दर अन्य कोई पद ग्रहण नही कर

सकतें। वह कांग्रेस के अन्तर्गत किसी पद के निर्वाचन से सम्बधिन्त झगड़े का फैसला करते है। कांग्रेस के मुख्य संगठन की सहायता के लिए कई सहायक संगठन भी काम कर रहे है, जैसे युवा कांग्रेस सेवा दल, महिला कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन, भारतीय राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस आदि।

जनता पार्टी – 1 मई 1977 को जनता पार्टी का औपचारिक गठन और थोड़े ही दिनों में इसका विघटन भारतीय राजनीति की महत्वपूर्ण घटना है। 1975 में इन्दिरा गाँधी द्वारा आपात स्थिति के जारी होने के बाद जनता पर जो दमन चक्र चलाया गया था वह गुलाम देशों की परिस्थिति की याद दिलाता है। चाहे पत्रकार हो या अध्यापक, छात्र हो या सामान्य नागरिक, कोई भी इस दमन से अछूता नहीं बचा। कांग्रेस के बढ़ते प्रभाव को देखतें हुए उसके विकल्प को खोजने का प्रयास तथा श्रीमति गाँधी द्वारा आरोपित तानाशाही ने विरोधी पक्ष के नेताओं को यह सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि देश के प्रजातंत्र को जिन्दा रखने के लिए एक मजबूत राष्ट्रीय पार्टी की आवश्यकता है जो कांग्रेस के विकल्प के रुप में कार्य कर सकें इन्ही विचारों के परिणामस्वरुप जनसंघ, भारतीय लोकदल, है जो कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने अपनें को विसर्जित कर एक दल के रुप में संगठित होने का निर्णय लिया। इस जनता पार्टी के संगठन का एकमात्र उद्देश्य था 'इन्दिरा हटाओं' इसलिए चारों दल सैद्धान्तिक मतभेदों को भूलकर एकजुट हो गये। लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने उनका पथ प्रदर्शन किया। कांग्रेस से टूटकर आये लोगों ने कांग्रेस फार डेमोक्रेसी की स्थापना की और इस पार्टी ने भी जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ा। जनता पार्टी के चुनाव घोषणा–पत्र में मतदाताओं को अश्वासन दिया गया था कि चारों पार्टियो चुनाव के बाद कानूनी तौर से एक हो जाएगी। इस अश्वासन को पूरा करतें हुए 1 मई 1977 को चारों दलों का औपचारिक विलय हुआ। इन सभी दलों ने अपनें प्रतिनिधियों के खुले अधिवेशन में अपने आप को समाप्त कर जनता पार्टी में शामिल हो जाने का निर्णय लिया। संगठन कांग्रेस ने अपनें संविधान में संशोधन कर जनता पार्टी के नाम से काम करने का फैसला किया तथा नया झण्डा तथा चुनाव चिन्ह ग्रहण किया। इसनें अपने 90 वर्षो के इतिहास को समाप्त कर दिया और नये इतिहास की शुरुवात की। प्रजातंत्र को क्षति पहुँचाने वालों को संगठन कांग्रेस के अध्यक्ष ने चेतावनी दी कि जब तक हम जिन्दा देश पर जंजीर डालने वालो नहीं रह पाएगा, जरुरत पड़ी तो आगे भी हम देश के लिए कुर्बानी देने में पीछे नहीं रहेंगे। भारतीय लोक दल द्वारा इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किया गया और जनता पार्टी के संविधान पर भी स्वीकृत दे दी गयी। जनसंघ के विलय प्रस्ताव में यह कहा गया कि वह इस विश्वास के साथ जनता पार्टी में शामिल हो रहा है कि नयी पार्टी भरतीय जनता की ललक और आकाँशाओं को पूरा करने में सफल होगी, और भारत को उसकी प्राचीन संस्कृति के उदात्त सिद्धान्त के आधार पर एक महान समृद्ध तथा आधुनिक राष्ट्र के रुप में घोषित करने का समर्थ उपकरण सिद्ध होगी। सोशलिस्ट पार्टी के सम्मेलन में यह विश्वास प्रकट किया गया कि जनता पार्टी की सरकार दिये गये सभी वादों को पूरा करेगी। प्रस्ताव में 10 वर्ष के अन्दर बेकारी और गरीबी दूर करने का संकल्प पर बल दिया गया।

1 मई 1977 को जनता पार्टी सम्मेलन में देश के कोने–कोने से आये 25 हजार से अधिक प्रतिनिधियों का खुला अधिवेशन हुआ । इस खुले अधिवेशन की अध्यक्षता श्री मोरारजी देसाई ने की। जनता पार्टी के औपचारिक गठन की घेषणा के बाद प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने प्रस्ताव में कहा कि भारतीय जनता के द्वारा अपनी खेई हुयी स्वाधीनता को प्राप्त करने और लोकतंत्र के राजपथ पर अपनी खण्डित यात्रा को पुनः आरम्भ करने के संकल्प के साथ जनता पार्टी का उदय

हुआ है। जनता पार्टी जनता के समक्ष आशा आकांक्षओं की धरोहर लेकर चल रही है औ जनता के कक्रिय सहयोग से ही इन आशा–आकांक्षओं की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है जनता की गहरी सूझ–बूझ और उसके सहयोग के बिना पूर्ण लोकतंत्र की स्थापना तथा भारतीय संविधान में निहित स्वतत्रता समता और बन्धुता के आदर्श नही हो सकता है।

जिस तेजी से इस दल का निर्माण हुआ और इसने जितनी लोकप्रियता पायी, अपनी ही तेजी से यह दल बिखर गया। यह एक गठबन्धन भर था जिसका थोड़े ही समय में टूट जाना स्वाभाविक था। 1979–80 के वर्षो में इसके घटक एक दूसरे से अलग हो गये और नयी–नयी पर्टियो के रुप में उभर आये। वास्तव में जनता पार्टी के गठन में घटक अलग–अलग और पारम्परिक विरोधी विचार रखने वाले थे। इनका परस्पर मेल–जोल ही एक अप्राकृतिक प्रक्रिया थी।

सच्चाई वह है कि यह एक नकारात्मक गठजोड़ था, केवल इन्दिरा विरोध ही इसका आधारथा। सत्ता में आते ही विभिन्न घटक शक्ति के बन्दर बाँट में लग गये। संगठन की दृष्टि से यह एक कमजोर दल सबित हुआ जो दल के संगठन को चुनाव न करा सका। इल की धूमिल छवि, इसका बिखरा हुआ संगठन साधन की कमी और जनता का अविश्वास, विरोधी मतों का विभाजन ये कुछ ऐसे कारण थे जिससे जनता पार्टी बिखर गयी। इसप्रकार जयप्रकाश नारायण का एक संशक्त जनतंत्र का सपना चकनाचूर हो गया।

संगठन कांग्रेस – 1969 में राष्ट्रपति के चुनाव तथा सिडिकेट जैसे प्रश्नों पर कांग्रेस पार्टी में पहला विभाजन हुआ कांग्रेस दो दलों– सत्तारुढ़ और विरोधी दल में बंट गयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस का विभाजन भारत की एक महान राजनीतिक घटना थी। इस विभाजन में लोकसभा में बहुमत कांग्रेसी सदस्यों का समर्थन प्राप्त होने के कारण इन्दिरा गाँधी गुट सत्तारुढ कांग्रेस तथा सिडिकेट गुट विरोधी कांग्रेस कहलाया। चुनाव में सत्तारुढ कांग्रेस को अप्रत्याशित विजय प्राप्त हुयी। इसप्रकार वस्तुतः सत्तारुढ कांग्रेस ने पूरानी कांग्रेस का स्थान ले लिया। इस आम चुनाव में संगठन कांग्रेस की ताकत तथा रीढ़ टूट गयी, धीरे–धीरे यह बिखरने लगा इसके विधायक और सदस्य बड़ी तेजी से सत्तारुढ़ कांग्रेस में शामिल होने लगे। यह दल देखतें ही देखतें समाप्त हो गया किन्तु इसी बीच जनता पार्टी का गठन हुआ और 1 मई 1977 को अपने को विसर्जित कर यह जनता पार्टी में विलीन हो गया। इस समय इस पार्टी का कोई अस्तित्व नहीं है।

कांग्रेस (समाजवादी) – 1969 में कांग्रेस का पहला विभाजन हुआ। पुनः इसका विभाजन 1978 और 1979 में हुआ। 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस को भारी पराजय का समाना करना पड़ा। दल में इन्दिरा गाँधी की स्थिति कमजोर पड़ गयी उनके कार्य एवं नेतृत्व की दल के अन्दर अलोचना होने लगी और सामूहिक नेतृत्व की बात उठने लगी। संसद में पूराने कांग्रेसियों का बहुमत रहा लेकिन संगठन पर इन्दिरा गाँधी का प्रभाव था। इस 1978 के विभाजन में दो कांग्रेस पार्टीयों कांग्रेस (इन्दिरा) और कांग्रेस (चहवाण) एक साथ काम करने लगी और दोनों ने असली कांग्रेस होने का दावा किया। इन्दिार कांग्रेस अधिक सक्रिय और प्रभावपूर्ण होती गयी। पुराने कांग्रेसी नेता निष्क्रिय होते गये। 1979 में देवराज अर्स ने बगावत की और इन्दिरा कांग्रेस को पुनः तोड़ दिया। इसका नाम कांग्रेस (समाजवादी दल) हो गया। यह दल नीतियों खासकर नेहरुवाद का पोषक है। देश में सत्तारुढ़ इन्दिरा कांग्रेस ही असली कांग्रेस के रुप में रह गया।

साम्यवादी दल (Communist Party)- साम्यवादी दल (संयुक्त रुप में) भारत का दूसरा सबसे बड़ा दल है। इसकी स्थापना 1922 ई0 में हुयी। इस पर प्रारम्भ में कांग्रेस दल का काफी प्रभाव था। 1938 ई0 तक इस दल पर प्रतिबन्ध लगा रहा। अतः इसके सदस्यों ने व्यावसायिक संघों, छात्र संगठनों तथा किसान सभाओं के द्वारा कार्य करना आरम्भ किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान साम्यवादी दल पर से प्रतिबंध उठा लिया गया।

संगठन – साम्यवादी दल के मुख्य समर्थक छात्रों औद्योगिक ने व्यवसायिक संघो, संगठनों तथा किसान मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई, आन्ध्रा, तथा मालावार क्षेत्रों में इसकी लोकप्रियता अधिक है। कोई व्यक्ति जिसकी उम्र कम से कम 19 वर्ष हो तथा जिसे दल के दो सदस्य प्रतिभूत (Sponsor) करें, दल का सदस्य हो सकता है। यह भी आवष्यक है कि वह दल के सिद्धान्तों में विश्वास करे तथा उसके कार्यक्रमों में सक्रिय सकता है। यह भी आवश्यक है कि भग ले। उसे शपथ लेकर दल के प्रतिनिष्ठा अभिव्यक्त करनी पड़ती है तथा है निम्न स्तर की इकाई अपने से ऊपर की इकाई के प्रति उत्तरदायी होती है।

सेल (Call) – दल की निम्नस्तरीय इकाई है। इसमें दो या तीन सदस्य रहते है। यह किसी भी कारखाने या अन्य स्थान में स्थापित हो सकता है। इसका कार्य साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करना है। दल का संगठन सीढ़ीनुमा है। गाँव, शहर, जिला तथा प्रान्तीय समितियाँ इसके मुख्य निकाय है प्रत्येक स्तर की समिति की एक कार्यकारिणी समिति होती है जिसमें पाँच सदस्य और एक सचिव होता है निम्न स्तर की इकाई अपने से ऊपर की इकाई के प्रति उत्तरदायी होती है।

दल का पोलिट ब्यूरो (Polit Bureau) – यह उसका आन्तरिक संगठन है। इसमें दल के प्रमुख सचिव तथा अन्य प्रमुख नेता रहतें है यह दल के पीछे इच्छा शक्ति का कार्य करती है तथा दल की नीतियों का निर्माण करती हैं अन्य देशों के साम्यवादी दलों की भांति भारतीय साम्यवादी दल भी श्रमिक वर्ग तथा कृषकों का रक्षक है। 1958 ई0 के अमृतसर अधिवेशन में दल के संविधान में कहा गया कि भारतीय साम्यवादी दल भरतीय मजदूर दल का राजनीतिक दल है इसका संरक्षक तथा इसका सर्वोच्च संगठन है यह मजदूरों तथा किसानों का स्वेच्छापूर्ण संगठन है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दल में सैद्धान्तिक मतभेद हुआ भारत चीन सीमा विवाद और अन्य दलीय नीतियों के सम्बन्ध में मत भिन्नता के कारण 1964 ई0 में विधिक्त रुप से दो दलों बँट गया। भारतीय साम्यवादी दल (दक्षिण पंथी) और भारतीय साम्यवादी दल (वामपंथी या मार्क्सवादी) इनमें से सामान्यताया प्रथम को साम्यवादी दल और द्वितीय को मार्क्सवादी दल कहा जाता है।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) – मार्क्सवादी दल पुराने साम्यवादी दल का अपेक्षाकृत उग्रवादी पक्ष है। दक्षिणपंथी साम्यवादी पुराने साम्यवादी दल में रह गये और वामपंथी रुप से दो इस साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का निर्माण किया। इस दल के मुख्य नेता ज्योति बसु और नम्बूदरीपाद हैं। यह दक्षिण पंथियों के विपरीत चीन को आक्रमक नहीं मानता है तथा गैर सांविधानिक उग्र पायो में विश्वास रखता है।

भारतीय जनता पार्टी – इस दल का मूलरुप भारतीय जनसंघ है। जनसंघ दक्षिणपंथी राजनीतिक दल था। इसकी स्थापना 1951 में डॉ0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी

की अध्यक्षता में हुई उत्तरी भारत के पंजाब, दिल्ली, मध्य भारत तथा राजस्थान में इसका अधिक प्रभाव देखने को मिलता हैं। 1 मई 1977 को अपनें को विभाजित कर जनसंघ दल जनता पार्टी में विलीन हो गया। 1980 में भारतीय जनता पार्टी के नाम से इसका पुनः निर्माण हुआ। 1956 ई में रामराज्य परिषद और हिन्दू महासभा को जनसंघ में मिलाने का असफल प्रसास किया गया। यह दल यद्यपि अपनें को साम्प्रदायिक नहीं कहता है फिर भी इसे हिन्दुओं का संगठन कहा जाता है। यह दल प्रजातंत्र यह दल प्रजांतत्र, कानून का शासन तथा वैकाल्पिक स्वतंत्रता का समर्थक है। इसका मुख्य सिद्धान्त आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना तथा हर प्रकार के शोषण का अन्त था। आलोचकों का कहना है कि जनसंघ के उग्र राष्ट्रवाद ने इसे एक फसिस्टवादी (fascist) संगठन बना दिया था। डॉ0 सम्पूर्णनन्द के शब्दों में आज भी इसका संविधान लिखित या अलिखित फसिस्टवादी है और भविष्य में इसकी फसिस्टवादी प्रवृत्तियों में वृद्धि ही होगी यह आबादी के एक बहुत बड़े भाग की अपील काता है और कभी कभी प्रजातंत्र के आधार को हिला सकता है। लेकिन अब यह दल समाप्त हो गया है। वर्तमान में भारतीय जनता पार्टी ने इसका स्थान ले लिया है।

प्रजा समाजवादी दल – प्रजा समाजवादी दल भारत के समस्त समाजवादी दलों में सबसे पुराना है मूलतः इसने कांग्रेस समाजवादी दल के रुप में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले कार्य किया। प्रजा समाजवादी दल का निर्माण 1952 ई0 में समाजवादी दल तथा कृषक मजदूर दल के सम्मिलन से हुआ लेकिन यह सम्मिलन अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। लोहिया तथा मधुलिमयें के नेतृत्व में दल की स्थापना की। पुनः 1963 ई0 में दोजों में विलयन हुआ जिसके फलस्वरुप संयुक्त सताजवादी दल से अलग हो गये तथा प्रजा समाजवादी दल को पुनः जीवित किया लेकिन इस विलयन ने दल की कमर तोड़ दी और दल की स्थिति बहुत कमजोर हो गयी। 1967 के आम चुनाव में दल को लोक सभा में केवल 13 तथा विधान सभाओं से 105 स्थान प्राप्त हुये। अगस्त 1971 में प्रसेपा संसोपा मिलकर पुनः एक हो गये और समाजवादी दल का जन्म हुआ। समाजवादी दल मई 1977 में जनता पार्टी में विलीन हो गया।

संयुक्त समाजवादी दल – संयुक्त समाजवादी दल की स्थापना 1965 में श्री राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में एक नये दल के रुप में की गयी जो प्रजा समाजवादी दल में परस्पर मतभेद का परिणाम था। पुनः 1964 में दोनों दलों में मिलन हो हगया लेकिन यह एकता बहुत दिनों तक नही बनी रही कुछ प्रजा समाजवादी में अलग होकर प्रजा समाजवादी दल को पुनः जीवित कर दिया।

समाजवादी दल का जन्म – पांचवे आम चुनाव से देश के समाजवादी तत्वों को सबक मिला इन्होंने महसूस किया कि आपसी फूट के कारण उनका अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। अतः अगस्त 1971 में दोनों दलों प्रसोपा संसोपा (प्रजा समाजवादी पार्टी – संयुक्त समाजवादी पार्टी) ने वर्षो के विलगाव के बाद पुनः एक होकर एक नये दल सतमाजवादी दल को जन्म दिया लेकिन समाजवादी एक दलीय इकाई के रुप में पनप नहीं पाये इनके आपसी मन मुटाव के कारण समाजवादी दल 1972 में पुनः कई टुकड़ों में बट गया जैसे पुराना समाजवादी दल, राजनारायण गुट, समतावादी, एकतावादी, समाजवादी दल। अगस्त 1974 में मुख्य संसोपा भारतीय लेक दल में विसर्जित हो गया जो बाद में चलकर जनता पार्टी का अंग बन गया।

भारतीय लोक दल – सत्तारुढ़ कांग्रेस के विकल्प के रुप में भारतीय लोक दल की स्थापना 29 अगसत 1973 को हुई इस नये दल को स्थापना के लिए

अनेक दलों ने अपनें पुराने अस्तित्व को खत्म किया था संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और खेती बाड़ी जमींदार यूनियन। राष्ट्रीय विकल्प के रुप में इसकी चर्चा करतें हुए अध्यक्षीय भाषण में चौधरी चरण सिंह ने कहा था कि हम यहा। इतिहास के भयानक संकट के बेरोजगारी, जोर और जुल्म का शिकार है।''

स्वतंत्र दल – स्वतंत्र दल एक अनुदारवादी दल है। इसकी स्थापना कांग्रेस की समाजवादी तथा प्रगतिशील नीतियों के प्रतिक्रियास्वरुप हुई। कांग्रेस ने नागपुर अधिवेषन 1959 में सहकारी खेती के पक्ष में निर्णय लिया निसके प्रतिक्रियास्वरुप श्री राजगोपालाचारी, श्री के. एम. मुंशी तथा श्री मीनू मसानी के नेतृत्व में इस इल का जन्म हुआ था अगस्त 1974 में यह दल भारतीय लोक दल में विसर्जित हो गया जो आगे चलकर दल का जन्म हहुआ था। जनता पार्टी में विलीन हो गया।

अखिल भारतीय हिन्दू महासभा – हिन्दू सहासभा का जन्म मुस्लिम लीग, की स्थापना के प्रतिक्रियास्वरुप ब्रिटिश के काल में ही हुआ था यह दल मुस्लिम सम्प्रदायवाद का कट्टर विरोधी तथा भारत विभाजन के विरुद्ध था। इसका उद्देश्य था हिन्दू मूल जाति, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सम्भ्यता की रक्षा तथा प्रगति और हिन्दू राष्ट्र के गौरव की वृद्धि।

दल का सदस्य 18 वर्ष से अधिक उम्र का केवल एक हिन्दू सकता है। 1950 ई0 के संसदीय कार्यो में भाग लेने के लिए गैर हिन्दूओं के लिए भी दल का दरवाजा खोज दिया गया। दल काह संगठन कांग्रेस के ही समान है। विभिन्न स्तरों पर इसके प्रमुख संगठन है। **(क)** महासभा की अखिल भारतीय समिति **(ख)** कार्यकारिणी **(ग)** जिला हिन्दू सभा **(घ)** तालुका, तहसील या सबडिवीजन हिन्दू सभा।

हिन्दू महासभा कट्टर तथा धार्मिक हिन्दुओं का संगठन है। महाराष्ट्र बंगाल तथा पंजाब में इसकी प्रभाव अधिक है। महाराष्ट्र में शिवसेना तथा पंजाब हिन्दू सुरक्षा संघ के रुप में इसे देखा जा सकता है।

नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी (राष्ट्रवादी कांगेस पार्टी)– वर्ष 2004 में राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी ने व्यावहारिक राजनीति की बाध्यताओं के चलतें अपनी मूल नीति में परिवर्तन कर लिया। पार्टी के द्वारा इस विचार को अपना लिया गया कि हमारी पहली प्राथमिक्ता साम्प्रदायिकता का विरोध है अतः राजग को सत्ताच्युत किया जाना आवश्यक हैं। इस प्रकार जो नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी अभी तक विदेशी मूल के मुद्दे को लेकर कांग्रेस का विरोध कर रही थी वही अब लोकसभा चुनाव में कांग्रेस के साथ गठबन्धन करने को तैयार हो गयी किन्तु अपनी नीति संस्थापक राजनीतिज्ञों में से पी. ए. संगमा राकापा से अलग हो गये। चुनाव आयोग ने राकापा का उत्तराधिकारी शरद पवार पार्टी को माना इस प्रकार 15वीं लोकसभा के चुनाव शरद पवार के नेतृत्व में राकापा ने कांग्रेस के साथ गठबन्धन के आधार पर लड़े। कांग्रेस के नेत्त्व में गठित ''संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन'' सरकार में राकांपा एक भागीदार पार्टी थी किन्तु वर्तमान ने इसका राष्ट्रीय पार्टी के रुप में कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

बहुजन समाज पार्टी– एक राष्ट्रीय पार्टी के रुप में अपनें जन्म के समय बहुजन समाज पार्टी के पास न तो कोई श्रृंखलाबद्ध संगठित का ढ़ांचा था। और न ही कोई संविधान। दलितों को आरक्षण नहीं, अनुकम्पा नहीं वरन् सत्ता में भागीदारी चाहिए इस मूल उद्देश्य व नारे को लेकर बहुजन समाज पार्टी ने अपनी राजनीतिक यात्रा शुरु की थी। ध्यान देने वाली बात यह है कि अब तक दलितों

और पिछड़ो को आरक्षण देकर उन्हें ऊँचा उठाने का बराबर प्रयास किया जा रहा है लेकिन माननीय काशीराम ने इस वर्ग में शासक बनने की ललक पैदा कर दी।

बसपा पार्टी ने 1996 से लेकर 2000 तक निरन्तर अपने राजनीतिक शक्ति में वृद्धि की। बारहवीं लोकसभा में इसनें 5,तेरहवीं लोकसभा में 14, चौदहवीं लोकसभा के चुनाव में 19 स्थान प्राप्त किये। पार्टी को उत्तर प्रदेश में ठोस समर्थन प्राप्त रहा है तथा मई 2007 ई0 में उत्तर प्रदेश विधानसभा के जो चुनाव हुये, उसमें पाटी ने 402 में से 206 स्थान (स्पष्ट बहुमत) प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि वह उत्तर प्रदेश में अन्य सभी दलों से बहुत आगे है। पार्टी की सर्वोच्च और एकमात्र नेता मायावती है। 2012 में सम्पन्न हुए विधानसभा चुनाव में आपनी शासक दल की स्थिति को खो दिया और समाजवादी पार्टी ने सत्ता प्राप्त हासिल की।

19.5 निष्कर्ष

भारत में सैकड़ों की संख्या में संगठित होने वाले राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों और लक्ष्यों में समानता दिखाई देती हैं विभिन्न राजनीतिक दलों के चुनाव घोषणा–पत्रों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनके बीच वैचारिक भिन्नता बहुत कम है। उनकी नीतियों और कार्यक्रमों में भी बहुत कुछ समानता दिखायी पड़ती हैं राजनीतिक विचारधारा एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से 1952 से अब तक बने राजनीतिक दलों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. समाजवादी विचारधारा के पोषक राजनीतिक दल – जो आरम्भ में कांग्रेस के अन्दर से ही विकसित हुए जैसे– कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, किसान मजदूर प्रजा पार्टी आदि।

2. साम्यवादी सिद्धान्त दर्शन पर आधारित दल – जो आर्थिक आधार पर अन्य दलों से स्पष्ट रुप निःसंदेह भिन्न है।

3. स्वतंत्र अर्थववस्था के समर्थक दल – स्वतंत्रोत्तर भारत में कुछ ऐसे भी दल हुए जो समाजवाद के विरुद्ध स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। जो प्रत्यक्ष रुप से पूँजीवाद व्यवस्था का अन्त करने के पक्ष में न थे। ऐसे राजनीतिक दलों में 1951 में गठित 'भारतीय जनसंघ' और स्वतंत्र पार्टी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन राजनीतिक दलों ने सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व बनाए रखनें का समर्थन किया और केन्द्रीय नियोजन का विरोध किया। धीरे–धीरे इसप्रकार के दलों का लोप हो गया और वर्तमान में लगभग सभी राजनीतिक दल समाजवादी मूल्यों और मान्यताओं के पोषक दिखाई देते है लक्ष्य सभी के एक से है लेकिन साधनों को लेकर थोड़ा बहुत मतभेद अवश्य है।

4. साम्प्रदायिक दलों एवं धर्म के प्रति के दृष्टिकोण के आधार पर भारत के राजनीतिक दलों को दो श्रेणीयों में विभाजित किया जाता है। (1) वे दल जो धर्म और राजनीति को पृथक नहीं मानते। इन्हें साम्प्रदायिक राजनीतिक दल कहा जाता है। इनमें भारतीय जनसंघ, मुस्लिम लीग, रामराज्य परिषद, हिन्दू महासभा, शिवसेना, आदि को मुख्य रुप से सम्मिलित किया जाता है इन राजनीतिक दलों का अपना धार्मिक एजेन्डा है और वह राजनीति में सफलता के लिए धर्म को साध नही साध्य भी

मानते है। (2) ''सेकुलर'' या 'धर्मनिरपक्ष' राजनीतिक दल है जो धर्म और राजनीति को अलग–अगल रखने के पक्ष में है।

वर्तमान दलों में से अधिकांश दल अपने को सेलुकर पार्टी होने का दावा करते है इतना ही नहीं बल्कि भारतीय जनता पार्टी भी अपने को धर्मनिरपेक्ष पार्टी कहती हैं।

19.6 सारांश

वस्तुस्थिति यह है कि वर्तमान राजनीतिक दलों में से अधिकांश दलों में कोई बड़ा सैद्धान्तिक अन्तर नहीं दिखाई देता। सभी राजनीतिक दल व्यक्ति और समाज के बहुमुखी विकास पर बल देते है, सभी दल आर्थिक विषमताओं का अन्त करना चाहते है, गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी को मिटाना चाहते है। वर्ग शोषण का विरोध करतें हैं पिछड़े वर्ग व दलितों के उत्थान के लिए प्रयत्नशील है, सामाजिक समानता स्थापित करना चाहते है, विदेशी से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखनें के पक्ष में है। असंलग्नता की नीति के समर्थक है, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के पोषक है। सारांश रुप में कहा जा समता है कि यदि विभिन्न दलों के बीच कुछ अन्तर है तो वह उद्देश्यों का नहीं साधनों का ही हो सकता है और वह भी प्रत्येक दल इस मामले में स्पष्ट नहं है। वास्तविकता में अधिकांश दलों के निर्माण का आधार या कारण व्यक्तित्व है विचारधारा या सिद्धान्त नही।

19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारत का संविधान – अजय सिंह, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
2. आधुनिक सरकारों : सिद्धान्त एवं व्यवहार – डॉ0 वी0 एन0 खन्ना, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
3. भारतीय राष्ट्रीय एवं राजनीति – प्रो0 जैन एवं जैन, संजय साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
4. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय गणतन्त्र का संविधान – डॉ0 खन्ना एवं सक्सेना, संजय साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

निबन्धात्मक प्रश्न (उत्तर लगभग 400 शब्द)

1. भारत में कौन–कौन से प्रमुख राजनीतिक दल है? उनके सिद्धान्त बताइये।
2. किन्हीं दो प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की विचारधारा और कार्यक्रम का उल्लेख करें।
3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की राजनीतिक भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए :
    1. भारतीय जनता पार्टी

2. भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

3. बहुजन समाज पार्टी

4. इन्दिरा कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस)

लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर लगभग 50 शब्द)

1. राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की मान्यता किस आधार पर दी जाती हैं?
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर पाँच पंक्तियां संक्षेप में लिखिए।
3. साम्यवादी दल की विचारधारा क्या है?
4. किसी एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल की नीतियाँ व कार्यक्रम बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में राजनीतिक दलों को कौन मान्यता देता है?

   (a) राष्ट्रपति

   (b) केन्द्रीय गृहमंत्री

   (c) निर्वाचन आयोग

   (d) लोकसभा अध्यक्ष

2. किस राजनीतिक दल का चुनाव चिन्ह 1952 के आग चुनाव से अब तक अपरिवर्तित रहा है?

   (a) भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

   (b) भारतीय जनता पार्टी

   (c) भारतीय समाजवादी दल

   (d) भारतीय साम्यवादी दल

3. लोकसभा में मान्यता प्राप्त विरोधी दल के नेता को निम्नलिखित में से किसके समान सुविधाएँ और बान्यताएँ प्रदान की जाती हैं?

   (a) कैबिनेट मंत्री

   (b) राज्यमंत्री

   (c) उपमंत्री

   (d) उपर्युक्त में से किसी के बराबर नही।

4. भारत के साविधानिक कानून में राजनीतिक दल को मान्यता कहा मिलती है

   (a) मंत्रिमण्डल के गठन के संदर्भ में

   (b) मंत्रिमण्डल के विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व के प्रश्न पर

(c) 52वें संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत

(d) कोई मान्यता नहीं मिली है।

इकाई–20

भारत के क्षेत्रीय राजनैतिक दल

इकाई की रुपरेखा –

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 क्षेत्रीय राजनीतिक दलो की मान्यता का आधार

20.3 क्षेत्रीय राजनीतिक दलो के लक्षण

20.4 भारत के प्रमुख क्षेत्रीय राजनीतिक दल संगठन और नीतियाँ

20.5 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर क्षेत्रीय दलो का प्रभाव

20.6 निष्कर्ष

20.7 सारांश

20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.9 बोध प्रश्न

20.0 उद्देश्य

ठस इकाई में क्षेत्रीय राजनीतिक दलो की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- क्षेत्रीय राजनीतिक दलो की मान्यता का आधार जान सकेगें।
- क्षेत्रीय दलो के प्रमुख लक्षणों पर चर्चा कर सकेंगे।
- भारत के कुछ प्रमुख क्षेत्रीय दलो का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर क्षेत्रीय दलो के प्रभाव का परीक्षण कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

वास्तव में ऐसे सभी दल राज्यस्तरीय दल है जो अलग–अलग राज्यों में प्रभावशाली है न कि किसी क्षेत्र विशेष में। इस दृष्टि से इन्हे राज्यस्तरीय दल ही कहा जाना चाहिए किन्तु व्यावहारिक राजनीतिक और जन व्यवहार में क्षेत्रीय दल शब्द का प्रचलन हो गया है।

1995 तक स्थिति यह थी कि क्षेत्रीय दल लोकसभा चुनाव में अपनी शक्ति और प्रभाव का सीमित परिचय ही दे पाते थे, लेकिन ग्यारहवी, बारहवी, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में क्षेत्रीय दलों की शक्ति में भारी वृद्धि हुयी

कुछ क्षेत्रीय दलो या गुटो ने तो भारतीय राजव्यवस्था में निर्णयकारी स्थिति प्राप्त कर ली।

नवीन संविधान के लागू होने के कुछ वर्षों के बाद से ही भारतीय राजनीति में अनेक क्षेत्रीय दलो का अस्तित्व तथा उनकी निरन्तर बढ़ती हुयी नितान्त स्वाभाविक स्थित है। 1996–2008 ई0 के काल में भारतीय राजनीतिक दलों के प्रसंग में जो सबसे प्रमुख स्थिति बनी वह है – क्षेत्रीय दलों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि क्योकि 1996 से लेकर 2008 ई0 तक केन्द्र में जो भी सरकारें बनी, उन सभी सरकारों के गठन तथा कार्यकरण में क्षेत्रीय दलों ने महत्वपूण भूमिका निभाई है।

यह इकाई क्षेत्रीय दलों की मान्यता के आधार तथा प्रमुख लक्षणो की चर्चा करती है। तदुपरांत भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दलों की स्थापना, नीतियों व कार्यक्रमों की छानबीन करती। है इसके साथ ही इन क्षेत्रीय दलों का भारतीय राजव्यवस्था पर क्या सकारात्मक व नकरात्मक प्रभाव पड़ा है, इसकी विस्तृत चर्चा करती है।

20.2 क्षेत्रीय दलों (राज्यस्तरीय दलों) की मान्यता का आधार

चुनाव इकाई द्वारा किसी भी दल को राज्यस्तरीय दल की मान्यता तभी प्राप्त होगी जबकि वह दल निम्नलिखित में से कोई एक शर्त पूरी करता हो –

1. राजनीतिक दल विधानसभा के गत आम चुनाव में राज्य विशेष में कुल प्रयुक्त वैध मतो का कम से कम 6 प्रतिशत प्राप्त कर ले तथा उसे उस राज्य की विधानसभा में कम से कम दो स्थान प्राप्त हो।

2. उस राजनीतिक दल के उम्मीदवार लोकसभा के गत आम चुनाव में कुल प्रयुक्त वैध मतो का कम से कम 6 प्रति”ात प्राप्त कर ले तथा इसके साथ उस दल का कम से कम एक सदस्य उस राज्य से लोकसभा के लिए निर्वाचित हो।

3. वह राजनीतिक दल विधानसभा के गत आम चुनाव में विधानसभा के कम से कम तीन प्रतिशत स्थान या कम से कम तीन स्थान इन दोनों में से जो अधिक हो, वह प्राप्त कर ले।

इस प्रकार निर्धारित मापदण्ड की दृष्टि से जनसमर्थन में कमी आने पर राष्ट्रीय दल की स्थिति और क्षेत्रीय दल क्षेत्रीय दल की स्थिति खो देते है।

20.3 क्षेत्रीय दलों (राज्य दलों) के लक्षण

1. क्षत्रीय दलों की शक्ति प्रमुख रुप से उस राज्य विशेष तक सीमित होती है जिस राज्य में उन्हें क्षेत्रीय या राज्य दल की मान्यता प्राप्त होती है।

2. क्षेत्रीय दल नीति निर्धारण में उस राज्य विशेष के हितो को या उन राज्यो के हितों को विशेष रुप से ध्यान में रखते है जिस राज्य में उन्हे क्षेत्रीय दल की स्थिति प्राप्त होती है। केन्द्रीय सत्ता में भागीदारी प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय दल, अन्य क्षेत्रीय दलो के साथ या किसी राष्ट्रीय दल के साथ सहयोग अथवा गठबन्धन की नीति और स्थितियो को अपनाते है। इस सम्बन्ध में समय–समय पर उनके द्वारा अपनी स्थिति में परिवर्तन किया जा सकता है।

3. अनेक बार यह आरोप लगता है कि क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते है। जबकि वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय दल हो या क्षेत्रीय दल कोई दल राष्ट्रीय एकता को मजबूत करेगा या कमजोर, यह बात दल की नीति की तुलना में भी अधिक सीमा तक उसके कार्यकरण पर निर्भर करती है। क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय हितो को हानि तभी पहुॅचने की स्थिति में होते है जब व राष्ट्रीय हितो के मूल्य पर क्षेत्रीय हितों को पूरा करने की चेष्टा करते है।

20.4 प्रमुख क्षेत्रीय राजनीतिक दल

समाजवादी दल

जनता दल (समाजवादी), जिसका गठन 1990 ई0 में हुआ था, उसके तीन प्रमुख नेता थे – चन्द्रशेखर, देवीलाल और मुलायम सिंह। चन्द्रशेखर और मुलायम सिंह के बीच मतभेद हो जाने पर, मुलायम सिंह ने जनता दल (समाजवादी) से अलग होकर अक्टूबर 1992 में समाजवादी पार्टी की स्थापना कर ली और 4 नवम्बर 1992 को लखनऊ सम्मेलन में इस पार्टी को औपचारिक रुप दे दिया गया। समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतन्त्र, इस दल के आदर्श है। यह पार्टी डॉ0 लोहिया के आदर्शो को पुनर्जीवित करने तथा अपने आपको अल्पसंख्याको का प्रबल पक्षधर बतलाती है और समाजवादी पार्टी का दावा है कि 'भाजपा के नेतृत्व में सक्रिय हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों का मुकाबला करने में केवल यही पार्टी सक्षम हैं। उत्तर प्रदेश इस पार्टी का प्रमुख कार्य–क्षेत्र रहा है।

स्माजवादी पार्टी ने अपने जारी घोषणा पत्र में अपनी व्यापक नीतियों व कार्यक्रामों का उल्लेख किया था जिसमें बेरोजगारी दूर करने के लिए परिवार के कम–से–कम एक व्यक्ति को रोजगार देने, दलित एवं अल्पसंख्यको को संरक्षण देने, देश में एक नई आर्थिक नीति लागू करने और पांच वर्ष में देश को विदेशी कर्ज से मुक्त करने का वायदा किया है। कृषि को उद्योग का दर्जा देते हुए अन्य उद्योगो के समान कृषि क्षेत्र के लिए भी छूट एवं सुविधाएं दी जाएगी। पार्टी ने पूरे देश में पांच वर्ष में पेयजल उपलब्ध कराने, स्वच्छ प्रशासन देने तथा असहायों, विकलांगो व विधवाओं को पेन्शन देने का वायदा किया है।

1996–2008 ई0 के वर्षो में उत्तर प्रदेश में भारतीय राजनीति के दो प्रमुख दलों कांग्रेस और भाजपा के प्रभाव में भारी कमी हुई तथा उत्तर प्रदेश में कभी सपा कभी बसपा ने सत्ता प्राप्त की। मई 2007 ई0 में सम्पन्न विधनसभा चुनाव में समाजवादी दल के सत्ता खो दी थी लेकिन 2012 के होने वाले विधानसभा चुनाव में समाजवादी पार्टी ने स्पष्ट बहुमत हासिल कर पुनः सत्ता प्राप्त की। इस विधानसभा चुनाव से लेकर वर्तमान समय तक माननीय मुलायम सिंह के पुत्र श्री अखिलेश यादव उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री है।

जनता दल (यू)

1989 में वी.पी. सिंह के नेतृत्व में जनता दल का गठन हुआ था। 1989–2000 के वर्षो में यह दल विभाजन, विलय और पुनः विभाजन की प्रक्रिया से गुजरता रहा। अगस्त 2009 ई0 में शरद यादव पुनः अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए। 2005 ई0 में बिहार विधानसभा चुनाव राजग ने नितीश कुमार के नेतृत्व में लड़ा हुआ बहुमत प्राप्त कर लिया। इस प्रकार नितीश कुमार ने बिहार में राजग सरकार

का गठन कर जनता दल (यू) के भारी प्रभाव का परिचय दिया। जनता दल (यू) राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन का एक घटक था।

2009 में सम्पन्न होने वाले 15वीं लोकसभा चुनाव अभियान में इस बात को भारतीय राजनीति के सभी पक्षों ने स्वीकार कर लिया कि नितीश और शरद के नेतृत्व में पिछड़ेपन के लिए विख्यात राज्य बिहार राज्य के सभी वर्गो और सम्प्रदायो के साथ अब निरन्तर व्यवस्था और विकास के मार्ग पर बढ़ाना चाहता है। 2014 के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी द्वारा नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का उमीदवार घोषित किये जाने पर नितीश कुमार द्वारा इसका विरोध किया गया इस प्रकरण के बाद से बिहार में भारतीय जनता पार्टी जनता दल (यू) अलग हो गये। इस लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को बिहार में सर्वाधिक 22 सीटे मिली तथा जनता दल (यू) ने 2015 में होने वाले बिहार विधानसभा चुनाव में अपने धुरविरोधी राष्ट्रीय जनता दल से गठबन्धन कर चुनाव लड़ा और बहुमत प्राप्त किया। इस समय बिहार के मुख्यमंत्री के रुप में नितीश कुमार सत्तारुढ़ है। यह गठबन्धन केवल स्वार्थ पर आधारित था इसका किसी विचारधारा या कार्यक्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अकाली दल (शिरोमणि अकाली दल)

अकाली दल पंजाब का एक क्षेत्रीय दल है। अकाली दल संविधान के क्षेत्रीय स्वरुप, राज्यो की स्वायत्तता और अल्पसंख्यको (विशेषतया सिक्खों) के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायी हितो की रक्षा के मुद्दों पर विशेष बल देता है। यह दल गुरुमुखी भाषा और लिपि के अधिकाधिक प्रयोग का समर्थक है। भूमि सुधार, कृषि का आधुनिकीकरण और ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग–धन्धो का विकास इसकी प्रमुख नीतियां है। अकाली दल द्वारा चुनाव के समय जारी किए गए चुनाव घोषणापत्र में संघीय व्यवस्था को सही रुप में अपनाने, किसानो को मुफ्त ट्यूबवैल कनैक्शन देने, नई सिंचाई परियोजनाएं बनाने, स्नातक स्तर तक लडकियों को निःशुल्क शिक्षा देने की बाते शामिल है। पंजाब, पंजाबियत एवं सिक्खें के उचित अधिकारो का समर्थन भी इस दल के कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग है। पंजाब में भी प्रकाश सिंह बादल अकाली दल के सर्वेसर्वा रहे तथा उन्हीं के नेतृत्व में विधानसभा चुनाव लड़ा जाता रहा। 2012 का विधानसभा चुनाव अकाली दल और भारतीय जनता पार्टी में मिलकर लड़ा और बहुमत हासिल किया। तब से अकाली दल से प्रकाश सिंह बादल मुख्य मंत्री पद पर आसीन है।

गणतन्त्र परिषद (Gantantra Parishad)

उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के देशी राजाओं ने 1950 ई0 में इस दल की स्थापना की थी। इस दल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सरायकेला और खरसावाँ की उड़ीसा में सम्मिलित करने के लिए आन्दोलन कारना था। आदिवासी जनता इसकी समर्थक है। दल ने राज्य विधान सभा में 1951 में 30 स्थान, 1957 में 51 स्थान, 1962 में 37 स्थान प्राप्त किये। बाद में यह दल स्वतंत्र पार्टी में विलीन हो गया।

राम राज्य परिषद (Ram Rajya Parishad)

स्वामी करपात्रीजी ने इस दल की स्थापना की थी। यह हिन्दुओं का एक साम्प्रदायिक संगठन है जिसका उद्देश्य अखण्ड भारत और राम राज्य की स्थापना करना है। यह दल हिन्दु कोड बिल तथा हरिजनों के मन्दिरो में प्रवेश सम्बन्धी

अधिनियम का विरोधी है। इसका प्रभाव राजस्थान में काफी था, लेकिन अब यह प्रभावहीन हो गया है।

द्रविड़ पुनेत्र कड़गम (D.M.K)

सी0 एस0 अन्नादुराई ने द्रविड़ कड़गम से अलग होकर 1949 ई0 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की स्थापना की थी। दल का उद्देश्य द्रविड़ परम्परा तथा संस्कृति को बनाए रखना तथा तमिल समुदाय को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव एवं उच्चता की स्थिति प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त राज्यो के लिए स्वायत्तता सहित वास्तविक सघात्मक व्यवस्था और संविधान में इसके लिए आवश्यक संशोधन, सभी राजकीय भाषाओं के लिए सरकारी भाषाओं की स्थिति तथा तमिलनाडू के लिए विभिन्न विकास योगनाएं इस दल की नीति और कार्यक्रम के प्रमुख आधार रहे है। इस दल की एक प्रमुख 'हिन्दी विरोध' है।

डीएमके और अन्ना डीएमके की एक दूसरे को चुनौती तमिलनाडू की राजनीति का सबसे प्रमुख तथ्य है। 1999 से 2003 ई0 के वर्षो में डीएमके राजग की एक इकाई था, लेकिन विभिन्न कारणों से भाजपा अन्ना डीएमके के समीप आती में गई और डीएमके से धीरे–धीरे दूर होती गई। 2003 ई0 में डीएमके ने राजग से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। चौदहवीं लोकसभा चुनाव में डीएमके ने पहले तो तमिलनाडू के कुछ क्षेत्रीय दलों पीएमके और एमडीएमके के साथ चुनाव गठबन्धन स्थापित किया उसके बाद इस डीएमके गठबन्धन का कांग्रेस के साथ चुनावी समझौता हुआ। 2004 ई0 के चुनावो में डीएमके गठबन्धन ने अन्ना डीएमके का सफाया कर दिया है। मई 2004 से लेकर (15वीं लोगसभा चुनावों के उपरान्त) तक डीएमके संयुक्त प्रगति''ील सरकार' का एक प्रमुख घटक था। एम0 करुणानिधि इस दल के सर्वोच्च नेता और अध्यक्ष थे। करुणानिधि की वृद्धावस्था के कारण उनके पुत्रो द्वारा पार्टी के बागडोर अपने हाथों में लेने के लिए आपस में होड़ सी लगी हुई है जिसके चलते पार्टी कमजोर होती जा रही है।

अन्ना डी.ए.म.के. (Anna D.M.K.)

जी. रामचन्द्रन ने डीएमके से अलग होकर 1972 ई0 में अन्ना डीएमके का गठन किया। इस क्षेत्रीय दल का प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी है। वास्तव में डीएमके और अन्ना डीएमके में कोई नीतिगत भेद नहीं है। दल की कुछ प्रमुख नीतियां है – समाज में पिछडे वर्गों के लिए समान अवसर, तमिल भाषा और संस्कृति के प्रचार तथा जबरन हिन्दी लादे जाने का विरोध और राज्यो के लिए स्वायत्तता एवं अधिक वित्तीय साधन आदि।

तमिलनाडु की राजनीति में जैसे उतार–चढ़ाव सामने आते है, वैसे भारी उतार–चढ़ाव की स्थिति सम्भवतया भारत के किसी भी अन्य राज्य में नहीं देखने को मिलती। अन्ना डीएमके में जयललिता को निर्विवाद नेतृत्व की स्थिति प्राप्त है। जयललिता अन्ना डीएमके की महामन्त्री थी। वर्तमान समय में डीएमके पार्टी की कमजोर स्थिति के फलस्वरुप अन्ना डीएमके पार्टी की नेता जयललिता तमिलनाडु की मुख्यमंत्री है।

डीएमके (एम) या एम.डी.एम.के.

डीएमके में विभाजन के फलस्वरुप तमिलनाडु में मई 1994 में एक नए क्षेत्रीय दल डीएमके (एम) अर्थात मुरालारची की स्थापना हुई। इसके नेता है, वी0

गोपालास्वामी। अप्रैल 1998 में चुनाव आयोग ने इसे तमिलनाडु के एक क्षेत्रीय दल की मान्यता प्रदान की थी।

जम्मू कश्मीर नेशनल कान्फ्रेंस

नेशनल कान्फ्रेंस जम्मू कश्मीर राज्य का एक क्षेत्रीय दल है। इस दल के सर्वोच्च नेता शेख अब्दुल्ला तथा उनकी मृत्यु पर उनके पूत्र फारुख अब्दुल्ला रहें है। नेशनल कान्फ्रेंस भारतीय संघ में जम्मू कश्मीर राज्य की विशेष स्थिति (भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370) को बनाए रखने की समर्थक है और इस बात पर बल देती रही है कि जम्मू कश्मीर राज्य को आज की तुलना में अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। 2003 ई0 से फारुख अब्दुल्ला के पुत्र उमर अब्दुल्ला नेशनल कांफ्रेस के अध्यक्ष पर पर आसीन हैं। नेशनल कांफ्रेस ने लम्बे समय तक सत्ता में रहने के बाद 2002 ई0 के विधानसभा चुनावों में अपनी सत्ता खो दी, अपनी खोई हुयी सत्ता को इस दल ने राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ सहयोग के आधार पर चुनाव लड़कर 2008 ई0 में पुनः प्राप्त कर लिया है किन्तु धीरे–धीरे जम्मू कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेस की शक्ति कमजोर पड़ने के फलस्वरुप पी.डी.पी. नाम पार्टी बनकर उभरी और भारतीय जनता पार्टी के सहयोग से श्री मुफ्ती मुहम्मद सईद जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री बनें परन्तु अस्वस्था के कारण वर्ष 2015 में उनकी मृत्यू हो गयी अब वर्तमान में उनकी पुत्री माननीय महबूबा मुफ्ती जम्मू कश्मीर की मुख्यमंत्री है।

तेलुगु देशम्

तेलुगु देशम् आन्ध्र प्रदेश का एक क्षत्रीय दल है। 1982 में इस राजनीतिक दल की स्थापना में संस्थापक अध्यक्ष एन.टी. रामाराव तेलुगु भाषा के समाचार–पत्र ई–नाडू के सम्पादक रामोजी राव और पी. उपेन्द्र की भूमिका प्रमुख रही। तेलुगु देशम् का सबसे प्रमुख नारा रहा, 'तेलुगु आत्मगौरव की रक्षा'। तेलुगु देशम् गुटबन्दी से पीडित थी और एन.टी. आर. के जीवनकाल में ही 1995 के मध्य में तेलुगु देशम् दो भागो में बट गई – तेलुगु देशम् (नायडू गुट) और तेलुगु देशम् (पार्वती गुट)। ग्यारहवी लोकसभा के चुनावों में तेलुगु देशम् (नायडू गुट) ने लोकप्रियता का परिचय दिया। इस प्रकार जनता तथा चुनाव आयोग ने भी नायडू गुट को तेलुगु देशम् का उत्तराधिकारी मान लिया।

तेलुगु देशम् अपनी स्थापना के समय से ही राज्यों के लिए स्वायत्तता का प्रबल समर्थक रहा हैं तथा 1988–2003ई0 तेलुगु देशम् के सर्वोच्च नेता और आन्ध्र के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबु नायडु राज्यों के लिए स्वायत्तता, विशेषतया वित्तीय स्वायत्तता पर बल देते रहे है। चन्द्रबाबू ने 'आर्थिक उदारीकरण' और 'यान्त्रिकी विकास' के सबसे प्रबल पक्षधर के रुप में अपनी पहचान बनाई औश्र लगभग दो दशक में आन्ध्र प्रदेश के चतुर्मुखी विकास की बात कहते हैं लेकिन लोकलुभावन राजनीति को भी अपनाए हुए है। सोचा यह जाता था कि तेलुगु देशम् को आन्ध्र में अच्छा जन समर्थन प्राप्त है लेकिन 2004 ई0 के लोकसभा और आन्ध्र विधानसभा चुनावों में इस दल को भारी पराजय का समना करना पड़ा। किसानों के हितों की अनदेखी और अलग तेलंगाना राज्य की मांग इस स्थिति के लिए उत्तरदायी कहे जा सकते है। वस्तुतः हाईटेक नायडू जमीनी राजनीति से दूर होकर हवा में उड़ होकर हवा में उड़ रहे थे। पन्द्रहवी लोकसभा और आन्ध्र विधानसभा के चुनावों में तेलुगु अपनी समस्त आशाओं के विपरीत, शक्ति में अधिक वृद्धि नहीं कर पाया है।

कुछ वर्ष पूर्व तेलंगाना राज्य की मांग के चलते आंध्र प्रदेश राज्य का विभाजन हो गया और आंध्र प्रदेश तथा तेलंगाना नाम से दो राज्य बनें। वर्तमान में

आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री तेलगू देश में के नेता श्री चन्द्रबाबू नायडू तथा तेलंगाना राज्य के मुख्यमंत्री श्री चन्द्रशेखर राव है।

तृणमूल कांग्रेस

1998 में स्थापित पश्चिम बंगाल के इस क्षेत्रीय दल की प्रमुख नेता ममता बनर्जी है। ममता बनर्जी पश्चिम बंगाल के कांग्रेस दल की सबसे अधिक जुझारु नेता नहीं है। मार्क्सवादी दल तथा पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार का विरोध उनकी राजनीति का प्रमुख अंग रहा है और यह विरोध तथा पश्चिम बंगाल के समस्त निर्धन जन का सही हित चिन्तन इस दल के राजनीतिक कार्यक्रम का प्रमुख बिन्दु है। ममता बनर्जी को इस बात से सदैव ही आक्रोश रहा है कि कांग्रेस दल का एक भाग मार्क्सवादी सरकार का आवश्यक सक्रिय विरोध नहीं कर रहा है। इस स्थिति में 1998 में ममता बनर्जी ने कांग्रेस से सम्बन्ध तोड़कर तृणमूल कांग्रेस की स्थापना की। ममता बनर्जी औश्र तृणमूल कांग्रेस का उद्देश्य, नीति और कार्यक्रम एक सूत्रीय रहा है : वामपंथी मोर्चे या मार्क्सवादी दल को पश्चिम बंगाल से सत्ताच्युत कर राज्य में अपनी सरकार का गठन तथा तृणमूल कांग्रेस ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कभी भाजपा (राजग) और कभी 2008 ई0 मे ममता बनर्जी के जुझाारुपन ने अपना परिचय कृषक वर्ग के हितों की रक्षा करने में सक्षम नेता के रुप में दिया। 15वीं लोकसभा के चुनाव तृणमूल ने कांग्रेस नेतृत्व वाले 'संप्रग' की एक इकाई के रुप लड़े और प. बंगाल में लम्बे समय से चले आ रहे वामपंथी किले को भारी आघात पहुंचाया। चौदहवीं लोकसभा में तृणमूल को 1 स्थान प्राप्त था, 19 स्थानों के साथ तृणमूल सत्तारुढ़ कांग्रेस का सबसे प्रमुख सहयोगी था। 2011 के पिछले विधानसभा चुनाव में तृणमूल कांग्रेस ने वामपंथियों के गढ़ को ध्वस्त करते हुए भारी विजय प्राप्त की तथा ममता बनर्जी मुख्यमंत्री के रुप में सत्तारुढ़ हुई।

राष्ट्रीय जनता दल

बिहार के इस क्षेत्रीय दल का गठन बारहवी लोकसभा चुनाव की घोघणा से पूर्व ही हो गया था। 1997 में लालू प्रसाद यादव और शरद यादव ये दोनों नेता जनता दल का अध्यक्ष पद प्राप्त करने पर तुले थे। इस स्थिति ने जनता दल में विभाजन को जन्म दिया और लालू यादव ने जनता दल से अलग होकर 'राष्ट्रीय जनता दल' की स्थापना की। 'सामाजिक न्याय' इस दल का प्रमुख नारा और लालू की लोक लुभावन शैली तथा जातिवादी गठजोड़ इस दल की प्रमुख सम्पत्ति है। लालू यादव 1989 से ही बिहार में जनता दल का प्रमुख आधार रहे है। 1998 से लेकर 2004 ई0 तक यह दल बिहार का शासक दल रहा। 14वीं लोकसभा के चुनाव राजद, कांग्रेस और पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा) ने आपसी गठबन्धन टूट गया। गत लगभग एक वर्ष से धीरे–धीरे बिहार पर लालू की पकड़ कमजोर होती जा रही थी। 2005 ई0 मे बिहार विधानसथा चुनावो में राजद और लालू की शक्ति में भारी गिरावट आई और बिहार में राजग सरकार का गठन हो गया।

पन्द्रहवीं लोकसभा के चुनाव लालू ने पासवान और मुलायम के साथ 'चतुर्थ मोर्चे के रुप में लडे', लेकिन बिहार में लालू, पासवान तथा उनके चौथे मोर्चे को जनता ने अस्वीकार कर दिया। जनता ने बिहार राज्य के पिछड़ेपन के लिए लालू को दोषी ठहराया है। मात्र लोक लुभावन कार्यशैली और जाति व सम्प्रदाय आधारित गठबन्धन लम्बे समय तक चुनावी सफलता नहीं दे पाते है। 2015 के विधानसभा चुनाव से पूर्व जनता दल (यू) के नेता श्री नितीश कुमार ने भारतीय

जनता पार्टी गठबन्धन से अलग होकर राष्ट्रीय जनता दल तथा कांग्रेस से मिलकर नया गठबन्धन बनाया। केन्द्र की भाजपा सरकार के विरोध में इस गठबन्धन में विधानसभा चुनाव में जीत हासिल की तथा श्री नितीश कुमार बिहार के मुख्यमंत्री बनें और राष्ट्रीय जनता दल सुप्रीमो लालू यादव का बेटा उप–मुख्यमंत्री बना।

शिवसेना

शिवसेना महाराष्ट्र और दादरा नागर हवेली का एक क्षेत्रीय दल है, जिसका प्रमुख कार्यक्षेत्र है। शिवसेना एक हिन्दूत्ववादी पार्टी है और महाराष्ट्र में भाजपा के साथ प्रारम्भ से ही उसके निकट के सम्बन्ध रहे है। 1988 के लगभग 'शिवसेना–भाजपा गठबन्धन' स्थापित हो गया और इस गठबन्धन ने 1994 में महाराष्ट्र में सत्ता प्राप्त की और ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव (1996) में भी इस गठबन्धन ने भारी सफलता प्राप्त की, लेकिन बारहवीं लोकसभा और तेरहवीं लोकसभा के चुनाव में यह गठबन्धन अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाया। चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में महाराष्ट्र में 'कांग्रेस – राकपा गठबन्धन' सफलता प्राप्त नहीं कर पाया। चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में महाराष्ट्र में अपने ठोस प्रभाव और जमीनी आधार का परिचय दिया। शिवसेना के विधान में व्यवस्था है कि बाल ठाकरे आजीवन इस दल के अध्यक्ष रहेंगे। 2003 ई0 में उद्धव ठाकरे को शिवसेना का कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया। शिवसेना में गुटबन्दी तो पहले से भी, 2003 ई0 में उद्धव ठाकरे को शिवसेना का कार्यकारी अध्यक्ष, दूसरे शब्दो में बाल ठाकरे का राजनीतिक उत्तराधिकारी बनाए जाने के साथ ही यह गुटबन्दी उभर कर सामने आ गई। 2005 ई0 में पहले तो शिवसेना के एक प्रभावशाली नेता नारायण राणे तथा उसके बाद राज ठाकरे ने शिवसेना छोड़ दी। इन स्थितियों के कारण शिवसेना की शक्ति में निश्चित रुप में कमी आई है। शिवसेना का समस्त कार्य संचालन मुम्बई में बाल ठाकरे के निवास स्थान मातु श्री से होता है।

महाराष्ट्र निर्माण सेना – शिवसेना के एक नेता और बाल ठाकरे परिवार के सदस्य राज ठाकरे 2005 के अन्तिम दिनों में शिवसेना से अलग हो गये और 2006 के आरम्भ में उन्होंने एक पृथक दल 'महाराष्ट्र घोषित किया गया। 2008–10 तक शिवसेना और बाल ठाकरे के द्वारा 'महाराष्ट्र केवल मराठी भाषा–भाषी लोगो के लिए' का नारा लगाते हुए प्रारम्भ में दक्षिण भारतीयों और कालान्तर में उत्तर–भारतीयों का विरोध किया गया था किन्तु 1990 तक आते–आते शिवसेना द्वारा 'आक्रामण क्षेत्रवाद' का त्यागकर 'हिन्दुत्ववादी के अन्त तक भी अपनी राजनीतिक शक्ति का परिचय नहीं दे पायी। शिवसेना का वोट बैंक राज ठाकरे के पास न चला जाये यह सोंचकर शिवसेना और बाल ठाकरे में भी अत्यधिक अग्रवादी, क्षेत्रवादी नारे और आचरण को अपना लिया। इस प्रकार दोनों में आक्रामक क्षेत्रवादी आचरण की प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी जो भारत राष्ट्र और महाराष्ट्र दोनो के हितो को आघात पहुँचाने वाली तथा भारतीय संविधान के मूल आदर्शो के प्रतिकूल है।

वास्तव मे अपने अति उग्रविचारो के कारण श्री राज ठाकरे अपनी पार्टी को लोकप्रिय नहीं बना सकें। श्री बाल ठाकरे के मृत्यु के बाद उनके पुत्र श्री उद्धव ठाकरे शिवसेना के प्रमुख बने। अभी लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व हुए विधानसभा चुनाव में शिवसेना और भारतीय जनता पार्टी ने चुनाव लड़ा और विजय प्राप्त किया। वर्तमान में इसी गठबन्धन के नेता श्री देवेन्द्र फड़नवीस महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री है।

मुस्लिम लीग

इस साम्प्रदायिक दल की स्थापना 1906 ई0 में ब्रिटिश शासनकाल में हुयी थी तथा वह प्रभावशाली संगठन बना रहा किन्तु देश के विभाजन के बाद यह दल भारत से लगभग समाप्त हो गया था, लेकिन 1970 ई0 के बाद ही यह पहले केरल और बाद में तमिलनाडु में सक्रिय हो गया। महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर भारत के अन्य राज्यों में भी इसके द्वारा अपने प्रभाव का विस्तार करने की चेष्टाँए की जा रही है 1994 में लीग में विधिवत् विभाजन की स्थिति खडी हो गई तथा मुस्लिम लीग के एक प्रमुख नेता इब्राहिम सुलेमान सेठ इस दल से अलग हो गए फिर भी चेन्नई और केरल में आज भी यह दल क्रियाशील है।

असम गण परिषद

1979–85 के वर्षो में असम आन्दोलन को संचालित करने वाले दा प्रमुख संगठन थेः अखिल असम छात्र संघ और अखिल असम गण संग्राम परिषद'। 1985 में स्थापित राजनीतिक दल असम गण परिषद (अगप) इन दो संगठनों का ही राजनीतिक रुप था। अगस्त 1985 में सम्पन्न 'असम समझौते' के बाद असम में लोकतान्त्रिक पद्धति से सत्तारुढ़ इस दल का प्रमुख कार्यक्रम थाः असम में अवैध रुप से प्रवेश करने वाले विदेशियों की रोकथाम, असमी भाषा, असमी संस्कृति और असमवासियों विशेषताया मूल निवासियों के हितो की रक्षा, आदि। दल ने अल्पसंख्यको के जान–माल और हितो की रक्षा का आश्वासन भी दिया। 2009 ई0 के लोगसभा चुनाव इस दल ने राजग के साथ गठबन्धन के आधार पर लड़े लेकिन दल सीमित प्रभाव का ही परिचय दे पाया।

जमायत–उल–उलेमा हिन्द

यह इस्लाम धर्म के कट्टर अनुयायियों तथा धर्म–प्रचारको का राजनीतिक संगठन है। इसका कोई निजी आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। यह कांग्रेस की सम्पूर्ण नीतियों का समर्थन करता है।

झारखण्ड दल

यह दल आदिवासियों के लिए एक पृथक राज्य झारखण्ड की स्थापना के उद्देश्य से संगठित हुआ था। इसका मुख्य प्रभाव क्षेत्र बिहार था, लेकिन कांग्रेस में इसके विलीनीकरण के बाद यह लगभग समाप्त हो गया। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के नाम से यह दल पुनः सक्रिय हो गया है। अन्य आदिवासी संगठनों के साथ मिलकर इसने पुनः झारखण्ड राज्य की मांग को बुलंद किया था।

लेकतांत्रिक समाजवादी दल (Democratic Socialist Party)

इस दल का निर्माण 1982 में श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा के नेतृत्व में हुआ। कांग्रेस से अलग होकर बहुगुणा ने किसी अन्य दल में प्रवेश नहीं किया, बल्कि एक नये दल की स्थापना की। इस दल का संगठन और जनाधार नहीं के बराबर है। यह वामपंथी विचारो का पोषक है। यह लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षतावाद में विश्वास करता है। यह दल अब लोक दल में विलीन हो गया है।

जनवादी कांग्रेस (Janwadi Congress)

श्री चन्द्रजीत यादव ने अपने नेतृत्व में इस दल की स्थापना की है। केवल उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र में इसका कुछ प्रभाव है। यह समाजवादी विचारो का पोषक है।

राष्ट्रीय कांग्रेस (Rashtriya Congress)

1981 में गुजरात के विक्षुब्ध कांग्रेसियो ने श्री रतुभाई अडानी के नेतृत्व में उस दल की स्थापना की। गुजरात के विधायक और सांसद इसमें शामिल हुए। यह एक विक्षुद्ध क्षेत्रीय दल है। कांग्रेस की भांति यह लोकतंत्र और समाजवाद में विश्वास करता है।

संयुक्त अल्पसंख्यक मोर्चा (United Micorities Front)

यह दल भी विशेष परिस्थितियों का परिणाम है। दिसम्बर, 1985 के असम चुनाव के पूर्व नवम्बर में उस्मानी के नेतृत्व में जमायत–ए–उलेमा–ए–हिन्द सी0आर0पी0सी0, माइनोरिटी स्टूडेण्टस युनियन, माइनोरिटी युवा परिषद और अल्पसंख्यकों के दूसरे संगठनों को मिलाकर इस दल की स्थापना की गयी। असम समझौते के कारण असम के अल्पसंख्यको में एक दहशत पैदा हो गई कि उनका अस्तित्व खतरे में है और कांग्रेस उनके हितों की रक्षा नहीं कर सकती है। इसी भय के कारण इस नये संगठन का जन्म हुआ। चुनाव में इसे अच्छी सफलता मिली। विधान सभा के 17 और लोक सभा के एक स्थान पर इसकी विजय हुई।

फारवर्ड ब्लाक (Forward Bloc)

इस दल का संगठन नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में हुआ था। यह समाजवाद का समर्थक है। यह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए संसदीय तथा गैर–संसदीय दोनो प्रकार के तरीकों का समर्थन करता है। यह दो गुटो में विभाजित है। 1962 ई0 के आम चुनाव में लोकसभा में 1, मद्रास विधानसभा में 3 तथा पश्चिमी बंगाल विधान सभा में इसे 13 स्थान प्राप्त हुए। चौथे आम चुनाव में इसे लोक सभा में 2 तथा विधानसभा में 16 स्थान प्राप्त हुए। लोकसभा में तो नहीं लेकिन विधान सभा में मार्क्सवादी गठबन्धन के अंग के रुप में 1977 में इसे पश्चिम बंगाल में काफी सफलता मिली।

कृषक मजदूर दल (Peasants and Workers Party)

श्री एस0एस0 मोर और श्री के0एम0 जेटी के नेतृत्व में महाराष्ट्र में इस दल की स्थापना हुई। दल का प्रभाव महाराष्ट्र में अधिक तथा हैदराबाद और मध्य प्रदेश में थोडा है। प्रथम निर्वाचन में इसे लोक सभा में 1 तथा मुम्बई विधान सभा में 14, हैदराबाद विधान सभा में 14, और मध्य प्रदेश विधान सभा में 1 स्थान प्राप्त हुए। 1957 ई0 के आम चुनाव में यह लोक सभा में स्थान तथा मुम्बई विधान सभा में 30 स्थानों पर विजयी हुआ। 1962 ई0 में इसने महाराष्ट्र में केवल 15 स्थान प्राप्त किये। चौथे आम चुनाव में दल को विधान सभा में 19 तथा लोक सभा में 2 स्थान प्राप्त हुए। छठें लोक सभा चुनाव में इसे 1 स्थान प्राप्त हुआ। इस दल का उद्देश्य कृषकों और मजदूरों को प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना, बिना क्षति–पूर्ति के जमीन्दारी प्रथा की समाप्ति, भूमि का पुनर्तितरण तथा कृषको के लिए न्यूनतम वेतन का निर्धारण है।

आम आदमी पार्टी

देश में अन्ना हजारे द्वारा केन्द्र में लोकपाल की नियुक्ति एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध जन आन्दोलन चलाया गया जिसमें देश के तमाम बुद्धिजीवियों ने हिस्सा लिया, इस आन्दोलन को जनता का अपार समर्थन भी मिला। कालान्तर में इस आन्दोलन से निकलकर कुछ लोगों ने आम आदमी पार्टी का गठन किया। इस पार्टी के नेता श्री अरविंद केजरीवाल बने। वर्ष 2014 के लोकसभा चुनाव में इस पार्टी ने अपनी उम्मीदवार खडे किये किन्तु केवल पंजाब प्रान्त को छोडकर अन्यत्र इसके उम्मीदवारो को सफलता नहीं मिली स्वयं केजरीवाल भी लोकसभा चुनाव हार गये। वर्ष 2015 में दिल्ली में होने वाले विधानसभा चुनाव में आम आदमी पार्टी के द्वारा दिल्ली की जनता से अनेक लोक लुभावन वादे किये गये जैसे – बिजली के बिल का आधा किया जाना, प्रत्येक माह में 20 हजार लीटर मुफ्त देना, अवैध बसी कालोनियों को वैधता प्रदान करना आदि। जनता ने इन वादों पर विश्वास कर उक्त विधान सभा चुनाव में आम आदमी पार्टी को प्रचण्ड बहुमत से जिताया और केजरीवाल दिल्ली के मुख्यमंत्री बने।

अन्य क्षेत्रीय दल

उपर्युक्त क्षेत्रीय राजनीतिक दलो के अलावा अन्य राजनीतिक दल भी विभिन्न राज्यों की राजनीतिक में रहे है और इन्होंने उन राज्यों की राजनीतिक को समय–समय पर प्रभावित किया है। जैसे – उत्तर प्रदेश में जनता दल (राजाराम) अपना दल, राष्ट्रीय लोकमंच,उत्तराखण्ड में उत्तराखण्ड क्रांति दल, महाराष्ट्र में किसन मजदूर महासंघ, भादिया बहुजन महासंघ, आर.पी.आई. झारखण्ड में झारखण्ड विकास मोर्चा पश्चिमी बंगाल में सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर और क्रांतिकारी समाजवादी दल, केरल में केरल कांग्रेस (जे) और केरल कांग्रेस (मणिपुर) आंध्र प्रदेश में तेलंगाना राष्ट्रीय समिति मजलिस इत्तेहादुल मुस्लमीन, गोवा में महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल, संयुक्त गोमांतक दल इसी प्रकार उत्तर पूर्वी राज्यों में माणिपुर रिपब्लिकन पार्टी मणिपुर हिल युनियन, नागालैण्ड राष्ट्रवादी संगठन, संयुक्त लोकतांत्रिक दल, त्रिपुरा उपजाति समिति मिजो नेशनल फ्रण्ट, अरुणाचल कांग्रेस, अरुणाचल पीपुल्स पार्टी आदि।

20.5 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का प्रभाव

किसी भी प्रजातंत्रात्मक पद्धति को बहुत समय तक तब तक जीवित नहीं रखा जा सकता जब तक कि जनता सक्रिय रुप से राजनीति में भाग नहीं लेती। भारत की संघात्मक व्यवस्था में क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण सकारात्मक भूमिका रही है तथा आज भी वे इस भूमिका को निभा रहे हैं।

इस देश को महात्मा गाँधी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने अनपढ़ जनता में राजनैतिक जागरुकता की भावना उत्पन्न की किंतु दुर्भाग्य वश स्वतंत्रोत्तर भारत में एक लम्बे समय तक एक ही राजनैतिक दल का शासन रहने के कारण जनता में राजनीति के प्रति उदासीनता की भावना आ गयी इससे उनकी राजनैतिक प्रक्रिया में दिलचस्पी कम हो गयी जनता में दोबारा जागरुकता लाने का श्रेय डी0एम0के0 जैसे क्षेत्रीय राजनैतिक दलो को जाता है जिन्होंने जनता के सामने उनसे जुडे हुए ऐसे विषय और मुद्दे उठाये जिससे जनता के दिलो में भावनात्मक पैदा हो सकें। केन्द्र तथा राज्यों में बहुत लम्बे समय तक कांग्रेस पार्टी का जो शासन रहा है उसका भी संघात्मक प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। गैर कांग्रेसी सरकारों के विरुद्ध सरकार ने अपने अधिकारो का दुरुपयोग करके राज्यों की स्वायत्तता को भारी आघात पहुँचाया है क्योंकि उस समय अनेक ऐसे मामले

सामने आये जब केन्द्रीय सरकार द्वारा दलगत हितो के आधार पर पक्षपातपूर्ण कार्य किये गये जैसे – राज्यपालों तथा राज्य सरकारों को बर्खास्त करना, राज्यपालों द्वारा केन्द्र के इशारे पर विधानसभाओं का सत्र बुलाना, स्थगित व भंग करना, मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति व बर्खास्तगी, राष्ट्रपति शासन लागू करने के अधिकारों का दुरुपयोग, जाँच आयोग नियुक्त करने तथा राज्यों को अनुदान देने में पक्षपात आदि।

सशक्त क्षेत्रीय राजनैतिक दलो की भूमिका के द्वारा केन्द्र की एकदलीय सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाने का रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुआ तथा संविधान ने राज्यों को जो स्वायत्तता प्रदान की है उसकी रक्षा सम्भव हो सकी है। राज्यस्तरीय दलो के कारण अनेक राज्यों में ''प्रतियोगी दलीय प्रणाली'' सामने आयी जिससे संसदीय व्यवस्था का संचालन आसान हुआ है।

कुछ विषयों पर क्षेत्रीय दल केन्द्र का विरोध करके उसे उसका निर्णय बदलने पर विवश करने में सफल रहे है। वास्तविकता तो यह है कि 1967 से पहले कांग्रेस पार्टी किसी भी राज्य में किसी भी गैर कांग्रेस पार्टी का शासन बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी परन्तु 1967 के चुनाव के पश्चात जब तमिलनाडु में डी0एम0के0 एक सशक्त पार्टी के रूप में उभरकर सामने आयी और उसके कुछ समय पश्चात जब 1969 में कांग्रेस पार्टी विभाजन के कारण कमजोर हो गयी तो उसको विवश होकर 1971 के चुनावों में डी0एम0के0 के साथ चुनाव गठबन्धन करना पड़ा। अतः राष्ट्रीय स्तर पर सशक्त विपक्ष न होने के कारण सशक्त क्षेत्रीय पार्टिया ही केन्द्र की सत्ता के दुरुपयोग को रोक सकती है।

क्षेत्रीय दलों की सबसे बड़ी रचनात्मक भूमिका यह है कि इनके द्वारा राज्य विशेष के लिए अधिकतम आर्थिक सुविधाओं की मांग की गयी जिससे प्रादेशिक विषमता दूर हुयी और भारत के समुचित सर्वागीण विकास को गति मिली। क्षेत्रीय दलो के कारण ही विकास की अनेक योजनाओं और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन हुआ है। उत्तर पूर्वी भारत के विभिन्न राज्यों में सक्रिय क्षेत्रीय दलो ने भारत सरकार को इस बात के लिए प्रेरित किया कि इन राज्यों की विशेष परिस्थितियो और आकांक्षाओं को समझे। ये सभी बाते राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक साबित हुयी है।

जहां तक राष्ट्र निर्माण तथा राज्य निर्माण की प्रक्रिया का सम्बन्ध है उसके बारे में क्षेत्रीय राजनैतिक दलों की भूमिका नकारात्मक कही जा सकती है क्योकि इन्होने क्षेत्रवाद, भाषावाद, भूमिवाद के सिद्धान्त, साम्प्रदायिकतावाद तथा कबीलावाद के नारे लगाकर देश की एकता, अखण्डता तथा भाईचारे की भावना को आघात पहुंचाया है। इसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रीय दलों की पृथक्तावादी गतिविधियां भी रही है और उन्होंने राष्ट्रविरोधी तत्वों की भी सहायता की है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि राज्य निर्माण तथा राष्ट्र निर्माण के दृष्टिकोण से कुछ क्षेत्रीय दलो की भूमिका तो बहुत ही नकारात्मक रही है। भारत के कुछ राज्यों जैसे – त्रिपुरा, मिजोरम, पंजाब, असम, जम्मू कश्मीर आदि में क्षेत्रीय दलो द्वारा समय–समय पर पृथकतावादी मांग की जाती रही है और इसे पूरा करने हेतु दबावकारी आन्दोलन चलाये जाते रहे है। इतना ही नहीं बल्कि कुछ राष्ट्रीय दलों ने भी दलगत हितो को ध्यान में रखते हुए ऐसे क्षेत्रीय दलों के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से गठबन्धन किये है। जिसे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक कहा जा सकता है।

20.6 निष्कर्ष

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक में क्षेत्रीय दलो की भूमिका सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनो की प्रकार की रही है। उनकी भूमिका के कारण लोगो में राजनैतिक जाग्रति आयी, चुनाव प्रक्रिया में प्रतिस्पर्धा व राजनैतिक संस्कृति में भागीदारी की भावना उत्पन्न हुयी, केन्द्र में सत्तारुढ़ दल की निरंकुशतावादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर संघीय पद्धति को मजबूत बनाया। इसीप्रकार से उन्होंने कुछ राज्यों शासन दल तथा केन्द्र में विपक्ष की भूमिका निभाकर संसदीय प्रणाली को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है क्योंकि जो पार्टी शासक दल की भूमिका निभा सकती है वह विपक्ष की भूमिका के महत्व को भी भलीप्रकार समझाती है। जहां तक क्षेत्रीय राजनैतिक दलों का सम्बन्ध है उन्होंने शासक दल होने की तथा विपक्ष में बैठने की भूमिका बडी चतुराई से निभायी है। साथ ही उन्होंने राज्यपालो को रोकने के लिए जो लोकायुक्त विधेयक पास किये है वे भी सही दिशा में उठाया गया एक प्रशंसनीय कदम है। यद्यपि इन समस्त सकारात्मक पक्षो के बावजूद इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि राज्य निर्माण और राष्ट्र निर्माण के दृष्टिकोण के कुछ क्षेत्रीय दलो की भमिका बहुत ही नकारात्मक रही है।

20.7 सारांश

भारत में एक विशाल जनसंख्या और भाषा, आचार–विचार की विविधताओं और भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियो में भेद ने क्षेत्रीय (राज्यस्तरीय) दलों को जन्म दिया है। इन राज्यस्तरीय दलों का उदय तथा उनकी शक्ति में वृद्धि नितान्त स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण है। ग्यारहवी लोकसभा चुनाव के बाद से क्षेत्रीय दलों की शक्ति में भारी वृद्धि हुयी। 1996 से लेकर 2008 ई0 तक केन्द्र में जो भी सरकारे बनी उन सभी सरकारो के गठन तथा कार्यकरण में क्षेत्रीय दलो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। विवेकपूर्ण तथा संगठित विरोधी दल के अभाव में इन क्षेत्रीय में इन क्षेत्रीय दलों ने संगठित होकर विरोधी दल की भूमिका निभायी । इस सम्बन्ध में क्षेत्रीय ने संगठित होकर विरोधी दल की भूमिका निभायी। इस सम्बन्ध में क्षेत्रीय में क्षेत्रीय दलों या गुटों ने भारतीय राजव्यवस्था में निर्णयकारी भूमिका निभायी है।

किसी भी अन्य समय की तुलना में आज भारत की दलीय व्यवस्था में अधिक अस्पष्टता, अधिक अनिश्चितता और अधिक जटिलता की स्थिति है। आज जनता के बहुत बडे भाग मे सभी राजनीतिक दलों के प्रति घोर निराशा की भावना है। बार–बार चुनावों की स्थिति को लोकतंन्त्रिक व्यवस्था और देश के हित में नहीं माना जा सकता है। सभी दल अनेक गुटों में विभाजित है। गुटबन्दी तथा परस्पर विरोध जोरों पर है। प्रत्येक राज्य में सत्तारुढ़ तथा विक्षुब्ध गुट देखनें को मिलते है। भ्रष्टाचार अपनी पराकाष्ठा पर है। दलों में अनुशासनहीनता अपनी चरम सीमा पर पहुॅंचा चुका है।

भारतीय लोकतंत्र की रक्षा एवं राष्ट्र की एकता व अखण्डता हेतु यह आवश्यक है कि सभी दलों की शुद्धि एवं सुधार हो और यह तभी हो सकेगा जबकि भ्रष्ट तत्वो को राजनीति से बाहर किया जाये तथा राजनीतिक दलों के संगठन को नये सिरे से संगठित किया जाये।

20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सरकार के सिद्धान्त एवं प्रकार – डॉ0 वी. एन. खन्ना. साहित्य पब्लिकेशन, आगरा
2. राजनीति विज्ञान – प्रो0 मेहता एवं खन्ना, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
3. भारतीय संविधान – प्रो0 जैन एवं जैन, संजय साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
4. श्राजनीति विज्ञान – डॉ0 पुखराज जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
5. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारत का संविधान – अजय सिंह, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
6. राजनीति विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त – प्रो0 श्री प्रका"ामणि त्रिपाठी प्रत्यूष पब्लिकेशन, नई दिल्ली

20.9 बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न – (उत्तर लगभग 400 शब्द)

1. भारत में क्षेत्रीय दलों की भूमिका का परीक्षण कीजिए?
2. क्या भारत के क्षेत्रीय दलों ने राष्ट्रीय एकता को कमजोर किया है? स्पष्ट कीजिये।
3. किन्ही दो क्षेत्रीय दलों की विचारधारा, नीतियो और कार्यक्रयों का उल्लेख कीजिए।
4. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में क्षेत्रीय दलों की भूमिका एवं प्रभाव का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न – (उत्तर लगभग 50 शब्द)

1. किसी दल को क्षेत्रीय दल के रुप में मान्यता किस आधार पर दी जाती है।
2. क्षेत्रीय दलों के लक्षण बताइये।
3. क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि के चार प्रमुख कारण बताइये।
4. तृणमूल कांग्रेस पर टिप्पणी लिखिये।
5. किन्हीं दो क्षेत्रीय दलों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ट प्रश्न –

1. निम्नलिखित में असंगत को इंगित कीजिए–

   (A) डी0एम0के0 – सी0एन अन्नादुरई

   (B) तेलंगाना आन्दोलन – स्वतंत्र राज्य

(C) बल ठाकरे – हिन्दू महासभा

(D) द्विजातीय सिद्धान्त – तमिलनाडु का क्षेत्रीय आन्दोलन

2. रामविलास पासवान ने निम्नलिखित में से किस राजनीतिक दल का गठन किया?

(A) भारतीय किसान पार्टी

(B) लेक जनता पार्टी

(C) राष्ट्रीय जनता पार्टी

(D) भारतीय किसान कामगार पार्टी

3. नेता जी सुभाषचन्द्र बोस किस पार्टी से सम्बन्धित है?

(A) जनवादी कांग्रेस

(B) नेषनल कांग्रेस

(C) झारखण्ड दल

(D) फारवर्ड ब्लाक

4. अकाली दल किस प्रान्त का क्षेत्रीय राजनीतिक दल है?

(A) बिहार

(B) उत्तर प्रदेष

(C) पंजाब

(D) तमिलनाडु

5. जम्मू कश्मीर नेषनल कान्फ्रेस पार्टी की स्थापना किसने की थी?

(A) चन्द्रजीत यादव

(B) श्री रतुभाई अडानी

(C) शेख अब्दुल्ला

(D) स्वामी करपात्री जी

इकाई 21

भारत के राजनीतिक आन्दोलन

इकाई की रुपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 राजनीतिक आंदोलन–अर्थ एवं विशेषताएं

21.3 भारत में किसान आंदोलन

21.4 जनजातीय आंदोलन

21.5 भारत में मजदूर वर्ग का आंदोलन

21.6 महिला/नारीवादी आंदोलन

21.7 दलित और अन्य पिछड़ा वर्ग का आंदोलन

21.7.1 दलित आंदोलन

21.7.2 अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन

21.8 सारांश

21.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में राजनीतिक आन्दोलनों का अध्ययन करना है जिसकी प्रासंगिकता आधुनिक भारत में निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- राजनीतिक आन्दोलन की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- किसान आन्दोलन को समझ सकेंगे।
- भारत में जनजातीय आंदोलन की रुपरेखा तैयार कर सकेंगे।
- भारत में मज़दूर आंदोलन का अवलोकन कर सकेंगे।
- महिला/नारीवादी आन्दोलन का अवलोकन कर सकेंगे।
- भारत में दलित और पिछड़ा वर्ग आंदोलन के विकास को समझा सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

जैसा की आप जानते हैं कि भारत लोकतांत्रिक राज्य है जहाँ समय—समय पर चुनाव आयोजित किए जाते हैं और चुनाव के माध्यम से ही जनता अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति करती है। परन्तु क्या लोकतंत्र केवल इसी का नाम है? क्या लोकतंत्र में पाँच वर्षों के पश्चात् एक बार मत देने का अधिकार ही लोकतंत्र का आधार हो सकता है? यदि नहीं तो वे कौन से अन्य अधिकार हैं जो लोकतंत्र को जीवन प्रदान करते हैं? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ते हुए हम भारत में राजनीतिक आंदोलनों की व्याख्या करेंगे।

भारतीय लोकतंत्र वर्तमान वैश्विक परिवेश में भी एक जीवंत और सक्रिय लोकतंत्र कहलाता है। भारत के पड़ोसी राज्यों में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में भारतीय लोकतंत्र की सराहना की जाती रही है जहाँ लोकतंत्र की स्थापना के बाद से लेकर आज तक कभी लोकतांत्रिक मूल्यों की अनदेखी नहीं की गई। ऐसा बिलकुल नहीं है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में विरोध न उत्पन्न हुए हों, परन्तु इन विरोधों के उत्पन्न होने पर इनका शांतिपूर्ण उपचार ढूँढ़ा गया और यह केवल भारतीय संविधान में उल्लिखित स्वतंत्रता के अधिकारों के कारण ही संभव हो सका। भारतीय संविधान में प्रत्येक भारतीय नागरिक को विचारों की अभिव्यक्ति तथा समूह, संगठन या किसी सम्मेलन का आयोजन करने का अधिकार है। इन्हीं अधिकारों की उपस्थिति ने भारत में राजनीतिक आंदोलनों को भी संभव बनाया तथा लोकतंत्र के अस्तित्व को बिना कोई चोट पहुँचाए परिवर्तन का रास्ता प्रशस्थ किया है। भारतीय लोकतंत्र की सक्रियता तथा इसके मज़बूत अस्तित्व के मूल आधार के रुप में भारत में राजनीतिक आंदोलनों का अध्ययन किया जाएगा।

भारत में राजनीतिक आंदोलन सदैव साकारात्मक ही नहीं रहे। कभी—कभी तो इन आंदोलनों ने भारत की एकता और अखण्डता के समक्ष एक चुनौती भी प्रस्तुत की है। विश्व के कई देशों में हाल ही में हुए जन आंदोलनों ने वहाँ तखता पलट ही कर डाला, जो भारत के संदर्भ में उसकी अखण्डता के लिए एक भयानक परिणाम होता। लोकतंत्र की यही विशेषता उसे अन्य प्रकार के राजनीतिक व्यवस्थाओं से सर्वश्रेष्ठ बनाती है और वह है— शांतिपूर्ण परिवर्तन, जो बिना राजनीतिक आंदोलनों के संभव ही नहीं हो सकता। आंदोलन को विचारों और असंतोष की अभिव्यक्ति के साधन के रुप में देखा जाना चाहिए। जबतक विचारों और असंताष की अभिव्यक्ति में कोई बाधा नहीं आती व्यवस्था के लिए कोई खतरा नहीं पनपता, परन्तु जिस दिन अभिव्यक्ति के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं उसी दिन क्रांति का खतरा मंडराने लगता है।

हम राजनीतिक आंदोलनों के अर्थ और विशिष्टताओं का अध्ययन करेंगे और साथ ही भारत में विभिन्न राजनीतिक आंदोलनों का अध्ययन कर उनकी प्रकृति को समझने का प्रयास करें।

21.2 राजनीतिक आंदोलन—अर्थ एवं विशेषताएं

सबसे पहले हम यह जान लें कि आंदोलन का अर्थ क्या होता है और इसकी प्रकृति क्या होती है? आंदोलन का तात्पर्य लोगों द्वारा संगठित रुप में किया गया कोई सार्वजनिक कार्य जो दीर्घकालिक हो तथा जिसमें राजनीतिक परिवर्तन की माँग शामिल हो। आंदोलन किसी राज्य की जनता/लोगों द्वारा किसी सामान्य हित के विषय में उठाई गई आवाज़ है जिसमें किसी विशिष्ट व्यक्ति का कोई

हित/स्वार्थ निहित नहीं होता बल्कि यह सभी या किसी वर्ग–विशेष के हित में होती है। आंदोलनों को अलग–अलग प्रकार से देखा जा सकता है जो आपके दृष्टिकोण के आधार पर बदलते रहते हैं जैसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण में आंदोलन किसी वर्ग विशेष से जोड़कर देखा जाता है जबकि कुछ दृष्टिकोण इसे विचारधराओं से ही जोड़कर देखते हैं। मार्क्सवादी विचारक आंदोलन को मुख्य रुप से सर्वहारा वर्ग के आंदोलन के रुप में देखते हैं जबकि उदारवादी विचारक आंदोलनों को किसी विशिष्ट प्रकार के विचार से जोड़कर देखते हैं जिनपर आधारित मांगे उठाई जाती हैं। वे तो बिना विचारधाराओं के आंदोलन की कल्पना भी नहीं कर सकते। कोई भी वर्ग या लोगों का समूह जब कोई मांग करता है तो उसके कुछ निश्चित आधार होते हैं। बिना विचारधारा के उनकी आवाज़ एक हड़ताल से ज़्यादा और कुछ नहीं रह जाती। ऑक्सफोर्ड इंगलिश शब्दकोष के अनुसार आंदोलन किसी विशेष सामाजिक लक्ष्य की ओर बढ़ने या व्यक्तियों द्वारा दी जाने वाली निरन्तर क्रियाओं अथवा प्रयासों का एक क्रम है।

आंदोलन की कुछ विशिष्टताएं होती हैं जैसे– पहला, आंदोलन को सामाजिक परिवर्तन लाने का एक अच्छा साधन माना जाता है। आंदोलन एक ऐसा माध्यम है जिससे अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा सामाजिक परिवर्तन का रास्ता प्रशस्थ होता है। दूसरा, आंदोलन का रुप धारण करने के लिए लोगों की मांग को संगठित रुप से अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है क्यों कि व्यक्ति द्वारा उठाई गई आवाज़ तब तक आंदोलन की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती जब तक वह सामूहिक क्रिया न हो। तीसरा, प्रत्येक आंदोलन का कुछ निश्चित लक्ष्य अवश्य होता हैं जिसके अभाव में आंदोलन लोगों की भीड़ से ज्यादा और कुछ नहीं रह जाता। चौथा, आंदोलन की शुरुआत के लिए सबसे आवश्यक कारक एक संगठन का होना है। बिना संगठन के आंदोलन का चल पाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। पाँचवा, आंदोलन एक सतत् प्रक्रिया होती है। एक दिन या कुछ दिनों का प्रदर्शन आंदोलन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। छठा, प्रत्येक आंदोलन की कोई निश्चित विचारधारा होती है। बिना विचारधारा के आंदोलन हो ही नहीं सकते क्यों कि आंदोलन के लिए जन समर्थन आवश्यक है और जन समर्थन के लिए एक निश्चित विचारधारा होनी ही चाहिए। सातवाँ, आंदोलन सदैव संकट काल में ही होता है। सामान्य परिस्थितियों में आंदोलन हो ही नहीं सकता। आंदोलन किसी परिवर्तन के उद्देश्य से ही किया जाता है और अगर सब कुछ सामान्य है तो आंदोलन की आवश्यकता ही नहीं है। आठवाँ, आंदोलन कभी भी केवल सैद्धान्तिक नहीं हो सकता इसमें क्रियात्मकता अवश्य होती है। आंदोलन का लक्ष्य परिवर्तन से जुड़ा है इसलिए जब तक क्रियात्मकता नहीं होगी तब तक केवल सैद्धान्तिक स्तर पर आंदोलन का कोई अर्थ नहीं होता।

बोध प्रश्न 1

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. किसी आंदोलन के महत्वपूर्ण विशषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

....

2. आन्दोलनों के अध्ययन के लिए प्रयोग किए जाने वाले दृष्टिकोण का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

21.3 भारत में किसान आंदोलन

भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी आबादी का लगभग 77 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। हालांकि हाल के वर्षों में आए उदारीकरण, शहरीकरण और निजीकरण ने स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है पर फिर भी इनकी जनसंख्या किसी अन्य व्यवसाय में लगे लोगों की अपेक्षा सबसे अधिक है। दुःख की बात यह है कि इतनी बड़ी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाले इस वर्ग के लिए भी आजतक कोई समतापूर्ण नीति का निर्माण नहीं हो सका है जिसके कारण आज भी कृषकों की एक भारी संख्या एक छोटे भू–भाग में ही खेती करके अपना गुजारा कर रही है जो पाँच एकड़ या उससे भी कम है और कुछ बड़े–बड़े किसान भी हैं जो कुल कृषि योग्य भूमि का अधिकतम् भाग अपने पास रखे हुए हैं तथा स्वयं इस पर खेती न कर मज़दूरों के द्वारा खेती करवाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भूमि का वितरण असमान है जो कई समस्याओं को जन्म देती हैं जैसे जमींदारों द्वारा गरीब किसानों का उत्पीड़न और शोषण। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार द्वारा जमींदारी उन्मूलन के साथ–साथ भूमि–सुधारों के विभिन्न प्रयास किए गए जिसके तहत कृषि उत्पादन को बढ़ाने पर बल दिया गया। कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए 1960 के दशक में नवीन कृषि नीतियों की शुरुआत भी की गई जिसे **हरित क्रांति** के नाम से भी जाना जाता है। परन्तु इन सुधारों ने कृषक समुदाय के एक छोटे से भाग को ही लाभ पहुँचाया जो मुख्य रुप से धनी और मध्यम वर्ग के किसान थे। इन सुधारों से किसी भी प्रकार से छोटे और गरीब किसानों को कोई मदद न मिल सकी। इसका कारण यह था कि इस सुधार के प्रयास के अंतर्गत केवल कृषि–उत्पादन को बढाने का प्रयास किया गया जिससे बड़े किसानों ने वैज्ञानिक अनुसंधानों का सहारा लेकर उर्वरकों, कीट नाशकों और हाईब्रीड़ बीजों से अपने उत्पादन में वृद्धि कर ली क्योंकि अपने जमीन गिरवी रखकर या अन्य श्रोतों से उन्होंने पूँजी निवेश करके अपना हित साध लिया परन्तु जो गरीब किसान थे, उनके पास न तो उर्वरक खरीदने के पैसे थे, न कीट नाशकों पर व्यय करने के लिए और न ही उच्च कोटि के बीज खरीदने के लिए। ऐसे में कोई शक नहीं कि कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई परन्तु गरीब किसानों की स्थिति और भी दयनीय होती चली गई।

ऐसी स्थिति में किसानों द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए आवाज़ उठाना स्वाभाविक था। इन गरीब किसानों ने अपने हितों की रक्षा के लिए आवाज़ उठाना प्रारम्भ किया जिसे किसान आंदोलन के नाम से जाना जाता है। भारत में कृषि संबंधी आंदोलन मुख्य रुप से मजदूरी में वृद्धि, काम की बेहतर स्थितियों, जमींदारी द्वारा थोपी गई लेवी, गैर–कानूनी वसूली को समाप्त करने और कर्ज़ माफ करने

अथवा रद्द करने से संबंधित थे। इन आंदोलनों की संख्या बहुत ज़्यादा रही परन्तु मुख्य रुप से आज़ादी के बाद के सात आंदोलनों की गिनती की जाती है जो अपने प्रभाव तथा विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। इन सात आंदोलनों में से चार आंदोलनों को शुरु करने का श्रेय कम्युनिस्ट पार्टी को जाता है जैसे 1946 का तेभागा आंदोलन जो कि उत्तर बंगाल में हुआ, 1946–1948 तक चले तेलंगाना किसान संघर्ष जो कि हैदराबाद में हुआ था, 1948 में हुई काश्तकारों और भूमिहीन मजदूरों का आंदोलन जो कि तंजौर में हुआ तथा 1946–1948 के मध्य केरल में अनाज के गोदामों और ट्रकों पर हमला और संक्षिप्त हड़ताल। इसके अतिरिक्त 1966–71 में आंध्र प्रदेश क्रांतिकारी कम्यूनिस्ट कमेटी द्वारा किसान संघर्ष चलाया गया और 1967–70 में नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम, मुशहरी और डेबरा–गोपीबल्लभपुर में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी–लेनिनवादी) ने आंदोलन किया।

तेलंगाना संघर्ष मुख्य रुप से देशमुखों और नवाबों द्वारा की जाने वाली गैर–कानूनी वसूली के विरुद्ध शुरु हुआ था और बाद में इसमें किसानों के कर्ज़ को माफ करने की मांग भी शामिल कर दी गई। भूमिहीन मज़दूरों और गरीब किसानों ने इस आंदोलन को विशेष समर्थन दिया। यह आंदोलन तीन कार्यक्रमों पर केन्द्रित था, जिन्हे ग्राम समितियों ने कार्यान्वित किया– बंधुआ मजदूरी को समाप्त करना, गैर–कानूनी वसूली को समाप्त करना तथा इस प्रकार की वसूली में उस राशि का पुनर्भुगतान करना, जिस पर बातचीत द्वारा सहमति हो और किसनों को उन जमींनों की वासपी करना जिनपर ज़मीन संबंधी दस्तावेजों में जालसाजी करके जमींदारों ने गैर–कानूनी कब्जा कर लिया था।

आंध्र प्रदेश के तेलंगाना में छोटे–छोटे किसानों की हालत बहुत खराब थी। जमींदार उन्हें मज़दूरी करने के लिए विवश करते थे। इसके अलावा जमींदारों ने काश्तकारों से जमीन खाली भी करा ली थी क्योंकि उन्हें यह भय था कि कहीं बेदखल करने के अधिकार के कारण काश्तकार ज़मीन पर कब्ज़ा न कर लें। 1950 के दशक में इस शोषण से बचने के लिए विभिन्न गावों में कई समितियाँ बनीं और हड़ताल की छिट–पुट घटनाएं हुईं जिसे पुलिस की सहायता से कुचलने का प्रयास किया गया। इन घटनाओं ने अंततः तेलंगाना संघर्ष का रुप ले लिया। इस आंदोलन में लगभग 300 गाँवों में बड़े–बड़े जमींदारों की जमीनों पर किसानों और भूमिहीन मजदूरों ने कब्जा कर लिया।

1946 से 1947 तक चला तेभागा आंदोलन बट़ाइदारों द्वारा उपज का दो तिहाई हिस्सा अपने पास रखने का आंदोलन था। ऐसा वे जोतदारों को भुगतान किए जाने वाले लभांश में कर रहे थे। आमतौर पर जोतदार लगान के रुप में आधे से लेकर दो तिहाई हिस्सा तक अनाज रख लेते थे। इसके विरोध में यह आंदोलन दिनाजपुर जिले में आरम्भ हुआ, जहाँ से यह बंगाल प्रांतीय किसान सभा के नेतृत्व में विभिन्न जिलों में फैल गया। बटाईदारों ने जुलूस निकाले और फसल का कोई भी हिस्सा जमींदारों को देने से इंकार कर दिया। आंदोलन में सबसे सक्रिय हिस्सेदारी गरीब किसानों की थी।

तेभागा और तेलंगाना संघर्षों ने देश के विभिन्न हिस्सों में इस तरह के आंदोलनों को प्रेरित भी किया। 1960 के दशक का महत्वपूर्ण किसान आंदोलन नक्सलबाड़ी आंदोलन था जो कि 1967 से 1969 तक चला। इस इलाके के 60 प्रतिशत किसान बटाईदार थे। यह आंदोलन ग्राम समितियों ने संचालित किया। नक्सलबाड़ी आंदोलन का मुख्य उद्देश्य मजदूरों और किसानों को शोषण के प्रति जागरुक करना, उनके बीच कृषि क्रांति की राजनीति का प्रचार करना था। एक गुप्त पार्टी का गठन किया गया और यह फैसला किया गया कि वह– जोतदारों

की जमीन जब्त करे लेंगे, उन बागान मजदूरों की भी जमीन जब्त करेंगे जिन्होंने गरीब किसानों से जमीन खरीदी थी, इन जमीनों पर खेती करेंगे और जोतदारों से जब्त की गई ज़मीन की सारी फसल स्वयं रख लेगे पर बगान मजदूरों की जमीन से पैदा फसल का आधा हिस्सा उन्हें दे देंगे। किसानों ने अस्थायी मुक्त अंचल कायम कर लिया जिन पर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की देखरेख में कई हफतों तक अधिकार बना रहा। परन्तु फिर भी पुलिस के हस्तक्षेप से किसानों का यह आंदोलन कुचल दिया गया जिसमें सैकड़ों किसान मारे गए। कम्यूनिष्टों के आक्रामक रवैये से किसान भी विभाजित हो गया।

नक्सलबाड़ी आंदोलन के बाद देश के विभिन्न इलाकों में वर्गीय आधार पर जमींदारों के खिलाफ किसानों का संघर्ष जारी रहा। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का विरोध करने वाले दलों और संगठनों ने भी देश के विभिन्न हिस्सों में भूमि हड़पने का आंदोलन शुरु कर दिया। उत्तर प्रदेश और बिहार में राजनीतिक पार्टियों ने भू–पतियों, रजवाडों और जमींदारों के हाथ में जमीन के केन्द्रीकरण के खिलाफ आंदोलन चलाया। इसका उद्देश्य कृषि–सुधार की आवश्यकता के प्रति जन चेतना लाना था। परन्तु विभिन्न आंदोलनों की प्रकृति एक जैसी नहीं थी। उदाहरण के तौर पर भाकपा और माकपा ने किसानों को बड़े जमींदारों के खिलाफ गोलबंद किया, जबकि प्रसोपा और संसोपा ने बड़े जमींदारों को छोड़ दिया। कुछ इलाकों में संघर्ष को वर्ग आधार पर भी संगठित किया गया जिसके कारण गरीब किसानों में निम्न जातियों और मुसलमानों का एक संयुक्त मोर्चा बनना प्रारम्भ हुआ। दूसरे क्षेत्रों में माकपा के नेतृत्व में अनुसुचित जाति तथा जनजातियों ने अपने ही समुदाय के अमीर लोगों के विरुद्ध मोर्चा बनाया।

ज़मीन पर कब्जा स्थापित करने का यह प्रयास ज़्यादा दिनों तक जारी नहीं रह सका क्योंकि पार्टियों की कार्यनीति में कई अंतर थे जिसके कारण उनमें कई विभेद उत्पन्न हो गए थे। राज्य के द्वारा भी दमनकारी नीति अपनाई गई। सत्तर के दशक की शुरुआत में अनेक राज्यों में भूमि सुधार और भूमि चकबंदी कानून लगू किए गए। भूमिहीनों को अतिरिक्त भूमि बाँटी गई। इसके अलावा कांग्रेस ने विपक्षी दलों से मुकाबला करने के लिए 1971 के चुनाव में गरीबी हटाओ का नारा भी दिया। इस प्रकार किसान आंदोलन को खत्म करने का प्रयास किया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ आवश्यक सुधार भी लाए गए। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि आज भी कभी सूखे के कारण, कभी बाढ़ के कारण और निरन्तर बढ़ती चली आ रही गरीबी के कारण बुन्देलखण्ड और देश के विभिन्न इलाकों में किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो रहें हैं। भूमि अधिग्रहण को लेकर भी कई विवाद पैदा हो रहे हैं। जो जमीन किसानों के लिए आवश्यक थे उसे सेज (स्पेशल इकोनॉमिक जोन) घोषित कर दिया गया। वर्तमान की परिस्थितियों को देखकर तो यही लगता है कि अभी किसान आंदोलनों को एक बहुत लम्बा रास्ता तय करना होगा और इन समस्याओं का समाधान करना होगा। भारत की कृषि प्रधान देश की छवि को बनाए रखने और सुधारने की आवश्यकता है और विज्ञान को किसानों का मित्र बनाते हुए वैज्ञानिक अनुसंधानों का लाभ गरीब किसानों तक पहुँचाने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 2

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. नक्सबाड़ी आंदोलन पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....
....
....

2. तेलंगाना आंदोलन पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....
....
....

21.4 जनजातीय आंदोलन

जनजातियों का तात्पर्य लोगों के ऐसे समूह से है जो प्राचीन जीवन शैली को मानते हैं और मुख्यधारा से स्वयं को अलग कर अपनी विशिष्ट जीवन शैली और संस्कृति को बनाए रखने में विश्वास रखते हैं। किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले, एक ही भाषा बोलने वाले, तथा एक ही संस्कृति का पालन करने वाले आदिवासियों को ही जनजाति कहा जाता है। मजूमदार ने जनजातियों की कुछ विशेषताएं बताई हैं जैसे प्रत्येक जनजाति को एक विशिष्ट नाम से जाना जाता है जैसे थारु, गारो, जयन्तिया, सन्थाल, खासी; परिवारों का एक समूह जैसे एक ही गोत्र का होना; निश्चित भू–भाग का होना; एक ही भाषा का प्रयोग; निश्चित व्यवसाय; अपने ही समुदाय में विवाह; तथा पारस्परिक लेन–देन। इन्हें परिभाषित करते हुए कहा गया है कि यह परिवारों के समूहों का संग्रह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, इसके सदस्य एक ही भू–भाग में निवास करते हैं, एक भाषा बोलते हैं और विवाह, वृत्ति या व्यवसाय के प्रति कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा उसमें परस्पर आदान–प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिक्ता की एक सुनिश्ति व्यवस्था विकसित हो गयी है।

वर्तमान में जनजातियों की संख्या भारत की कुल जनसंख्या का सात प्रतिशत है। भारत में अनुसुचित जातियों के विस्तार की बात की जाए तो यह देखाने को मिलता है कि जनजातियों का लगभग दो तिहाई हिस्सा पूर्वोत्तर के राज्यों जैसे असम, मेघालय, मणिपुर, मिजोरम, नागालैड़, त्रिपुरा और अरुणचल प्रदेश में रहता है, शेष मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, बिहार, झारखण्ड, उत्तरांचल, छत्तीसगढ़, गुजरात तथा दादर और नगर हवेली में है। जंगल और खेती ही इनकी आजीविका का मुख्य श्रोत हैं। पर्यावरण के लिए खतरा मानते हुए पहले तो सरकार ने इन्हे जंगलों से भी निकालने का प्रयास किया। परन्तु सरकार शायद यह भूल गई थी कि मेंढ़क के पानी पी लेने से कुंआ नहीं सूख जाता क्योंकि वह उसका प्राकृतिक आवास होता है, वो प्रकृति का दोहन नहीं करता बल्कि अपनी आजीविका के लिए उसका प्रयोग मात्र करता है। पर्यावरण को अधिकतम् खतरा तो बाहरी लोगों से होता है जो लाभ के उद्देश्य से जंगलों का दोहन करते हैं। कई विरोधों और विद्रोहों के बाद सरकार ने इन आदिवासियों के अधिकारों को जंगल में बनाए रखा। मुश्किल तो ये थी कि जो लोग शहरों में आते थे उनकी भी

आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय होती थी क्योंकि शहरों में आकर भी, अशिक्षित होने के कारण, उन्हें मज़दूरी करने का ही काम मिल पाता था। इस प्रकार समग्रता में यह कहा जा सकता है कि अनुसुचित जातियों की स्थिति बहुत दयनीय रही है। हाल के वर्षों में सरकार द्वारा कई कानूनों का निर्माण भी किया गया जिनका उद्देश्य इस वर्ग विशेष का सशक्तिकरण करना था। इनके वनों में रहने के अधिकार को भी मान्यता दी गई, परन्तु यह कहने में तनिक भी संदेह नहीं है कि आज भी इनकी स्थिति कुछ ज़्यादा बेहतर नहीं हो पाई है।

जनजातियों को स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी निरन्तर संघर्ष करना पड़ा है। आज़ादी से पूर्व ब्रिटिश शासन के खिलाफ जनजातियों के अनेक विद्रोह हुए। इनमें से उल्लेखनीय थे– 1772 में राजमहल पहाड़ियों का मालेर विद्रोह, 1931 का कोल विद्रोह, 1855 का संथाल विद्रोह, 1857 का भोक्ता विद्रोह और आंदोलन, 1880 में कच्छ नागाओं का विद्रोह, 1990 में सरदारी या मुल्ही लड़ाई और मुण्ड़ा जनजाति के बीच चला बिरसा आंदोलन। इनमें से अनेक संघर्ष सदियों पुराने थे और आंदोलनों को नेतृत्व देने वाले कबीला–नेता सरकार की आर्थिक नीतियों और विदेशी घुसपैठ के खिलाफ अपनी जनता को एकजुट करने के लिए कभी धाार्मिक मुहावरों का तो कभी प्रतीकों को इस्तेमाल करते थे। इनमें से कुछ संघर्ष तो उस औपनिवेशिक नीति के खिलाफ थे, जिसके तहत रेलवे तथा विभिन्न उद्योगों की जरुरतों को पूरा करने के लिए लकड़ी तथा जंगल के अन्य उत्पादों हेतु वनों को संरक्षित कर दिया गया था।

वनों के संरक्षण के नाम पर ब्रिटिश सरकार ने ऐसी स्थितियाँ तैयार कीं, जिनमें जनजातीय आबादी को कृषि–योग्य भूमि से बेदखल कर दिया गया। एक तरफ तो ब्रिटिश प्रशासन ने जहाँ जनजातीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन की नई प्रणाली शुरु करने का कोई प्रयास नहीं किया तथा दूसरी तरफ सूदखोर महाजनों और व्यापारियों के लिए रास्ता भी खोल दिए, जो जनजातीय लोगों की जमीन हड़पने के लिए बेताब थे। इस प्रक्रिया का कुल प्रभाव यह रहा कि जनजातीय आबादी अपनी ज़मीन से अलग होती गई। अपनी जमीन के अधिग्रहण के विरोध में संथालों, क्राओं, मुण्डा और भूमिली जैसे कुछ कबीलों ने बहुत संघर्ष किया।

स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई जिसके तहत भारत की विविधता को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया गया। इससे जनजातियों को अपनी संस्कृति के लिए एक खतरा महसूस होने लगा जिसके प्रतिरोध में जनजातियों ने भारत की आजादी को अपनी आजादी नहीं मानी और स्वयं अपनी स्वतंत्रता के लिए निरन्तर संघर्षरत रहे। आज़ादी के बाद पिछले कुछ दशकों के दौरान देश के विभिन्न हिस्सों में जनजातियों ने विभिन्न आर्थिक–सामाजिक मुद्दों पर संघर्ष की शुरुआत की जिनमें से कुछ आंदोलनों का उद्देश्य जनजातीय संस्कृति को पुनर्जीवित करना था और नई व्यवस्था और संस्कृति के प्रादुर्भाव से छिन्न हो रही अपनी संस्कृति को बचाए रखना था। इन आंदोलनों द्वारा कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर ध्यान दिया गया जैसे संसाधनों तक इनकी पहुँच और इन पर उनके प्रभुत्व पर मंडरा रहा खतरा, आपनी पहचान बनाए रखने के लिए जद्दोजहद, उनके प्राकृतिक आवास को पहुँच रहा खतरा, विभिन्न स्तरों पर सामुदायिक शक्ति संपन्न संगठन बनाने की अपेक्षाकृत संतोषजनक प्रणाली कायम करना। आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों की दृष्टि से जनजातीय आंदोलनों के अंतर्गत राजनीतिक स्वायत्त के लिए आंदोलन को शामिल किया जाता है जिसमें उत्तर–पूर्वी सीमा के जनजातीय समुदाय और खासतौर पर नागाओं की

महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्होंने राजनीतिक स्वायत्तता की मांग की और भारतीय संघ से बाहर नागाओं के लिए अलग राज्य के लिए संघर्ष किया। सन् 1946 में नागा नेश्नल कौंसिल का गठन हुआ जिसने एक स्वायत्तशासी राज्य की मांग की और भारतीय संघ के अंदर ही एक कानफेडरेशन (राज्यमण्डल) के निर्माण की मांग की। इसी प्रकार की कुछ मांगें 1970 के दशक में सीमांत क्षेत्रों के कुछ अन्य कबीलों ने भी की और इसे आंदोलन का रुप प्रदान किया। उदाहरणतः मिज़ो नेशनल आर्मी ने मिजो समुदाय के लिए पृथक राज्य की मांग करना प्रारंभ किया।

कई ऐसी जनजातियों ने भी इसी प्रकार की मांग की जो भारत की मुख्य भूमि पर थे, जिन्हे गैर–सीमांत जनजाति भी कहा जाता है। उदाहरण के रुप में झारखण्ड और बोडोलैण्ड के आंदोलन को देखा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में झारखण्ड आंदोलन शुरु हुआ था। आगे चलकर 1938 में आदिवासी महासभा और 1949 में झारखण्ड पार्टी का गठन हुआ जिन्होंने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया और बाद के वर्षों में अर्थात 1973 में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा नामक एक संगठन का जन्म हुआ जो बहुत ही जुझारु जनजातीय संगठन था। इसने स्थानीय आदिवासियों और हरिजनों का गैर–आदिवासियों के हाथों शोषण को समाप्त करने के लिए पृथक झारखण्ड राज्य की मांग की ताकि शोषण का यह दौर खत्म हो जाए और सरकार तथा उद्योगों में जनजातियों का भरपूर प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जा सके। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा ने बाहरी जमीदारों और पूँजीपतियों द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ न सिर्फ आवाज़ उठाई बल्कि क्षेत्र के गैर–जनजातीयों के खिलाफ भी मोर्चाबंदी कर दी। इस प्रकार यह आंदोलन एक ऐसे आंदोलन के रुप में उभरा जिसमें पिछड़ेपन और अल्पविकसित क्षेत्र के आर्थिक मुद्दों को उजागर किया। सन् 2001 में बिहार राज्य से अलग होकर झारखण्ड राज्य का निर्माण हुआ जो जनजातीय आंदोलन की सफलता को दर्शाता है। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ और उत्तराखण्ड राज्यों का निर्माण भी झारखण्ड के तर्ज पर हुआ। इससे जनजातीय भेदों को खत्म करने के प्रयास को बल मिला और साथ ही स्वशासन का अधिकार प्राप्त कर जनजातियों में आत्मविश्वास का भी संचार हुआ।

जनजातीय आंदोलनों के प्रति भारतीय राज्य की भूमिका कभी दमनकारी रही है तो कभी सहयोगात्मक। आंदोलनों के उभरने के तमाम कारणों को जानने के बाद यह स्पष्ट रुप से कहा जा सकता है कि विकास की कमी और पहचान का संकट जब तक दूर नहीं किया जाएगा, तब तक ऐसे आंदोलनों का सामना कर पाना कठिन होगा। संतुलित विकास का रास्ता भारतीय राज्य के समक्ष उभर रहीं विभिन्न चुनौतियों का एक सीधा और करारा जवाब होगा।

बोध प्रश्न 3

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. जनजातियों के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

....
....
....
....

....

....

21.5 भारत में मजदूर वर्ग का आंदोलन

भारत में मजदूर वर्ग का आंदोलन काफी समय से चला आ रहा है जिसे आजादी के पहले भी देखा जा सकता है। स्वतंत्रता पूर्व यह शोषण ब्रिटिश सरकार द्वारा किया गया और स्वतंत्रता के बाद बड़े–बड़े भारतीय उद्योगपतियों के द्वारा।

सन् 1947 के बाद से भारत में नए उद्योगों की स्थापना हुई और कामगारों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। रोजगार की दृष्टि से देखें तो रेलवे, पटसन और सूती कपड़ा उद्योग में सबसे ज़्यादा वृद्धि देखी जा सकती है और वर्तमान के औद्योगिकीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के काल में तो वेतन भोगियों की संख्या में और भी इज़ाफा हुआ है। जिससे मजदूर वर्ग की संख्या में विशेष वृद्धि देखी जा सकती। भारत में खेती की बदहाली ने तो शहरी मजदूरों की संख्या और भी बढ़ा दी है। जो लोग पहले अपने खेतों पर निर्भर हुआ करते थे आज वे मजबूर होकर शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं जिससे मजदूरों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है।

औद्योगिक कामगारों में बड़ी और छोटी फर्मों में काम करने वाले कई प्रकार के मजदूर होते हैं। ये सभी मजदूर वर्ग में ही शामिल किए जाते हैं। इसलिए, कुछ, विश्लषकों की तो यह राय है कि इतनी भिन्नता वाले वर्ग में हितों की समानता कैसे संभव है। और जहाँ हितों में ही असमानताएं हैं, वहाँ कोई एक मत बना पाना ही कठिन होता है। इसलिए इन्हें एक मानकर चलना भ्रामक होगा। यही वजह है कि अधिकांश विश्लेषक संगठित और असंगठित क्षेत्रों के मजदूरों में भेद करते हैं। परन्तु उनके बीच के अंतर से भी कोई फक्र नहीं पड़ता।

ट्रेड यूनियन आंदोलन का इतिहास राष्ट्रवादी आंदोलन से और इससे संबद्ध राजनीतिक पार्टीओं के इतिहास के साथ घनिष्ठ रुप से जुड़ा है जो इसका एक अभिन्न थे। आज़ादी से पूर्व जो भी राजनीतिक या आर्थिक आंदोलन चले सबका उद्देश्य साम्राज्यवादी शोषण को खत्म करना और भारत को स्वतंत्र कराना था। सन् 1920 से 1947 के मध्य आर्थिक समस्याओं से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण आजादी का प्रश्न था और मजदूरों के आंदोलनों ने न सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद बल्कि भारतीय पूँजीवाद से भी डटकर मुकाबला किया। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कार्यनीति के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन में भी विवाद उठ खडे हुए जिसके कारण इसका विभाजन हो गया। एक गुट कांग्रेस समर्थकों का था और एक कम्यूनिस्ट समर्थकों का – पहला, ए0आई0टी0यू0सी0 और दूसरा, इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर।

आजादी के बाद कांग्रेस के विरुद्ध मजदूरों का असंतोष बढ़ने लगा क्योंकि आजादी ने नवीन निजी पूँजी की व्यवस्था की शुरुआत की और कांग्रेस ने जनसामान्य के प्रति कठोर रवैया अपनाया जिससे पूँजीपतियों का संपूर्ण व्यवस्था में दबदबा कायम हो गया। सत्तधारी लोगों ने पूँजीवाद की स्थापना में अधिक रुची दिखाई जिसके चलते समाज में असमानता और असंतोष का बोल बाला हो गया। मुद्रा स्फीति और मूल्य वृद्धि से मजदूरों की स्थिति और भी दयनीय होने लगी। पिछले कई दशकों से यही कहानी चली आ रही है जिसने देश भर में मजदूरों को आक्रोषित कर दिया है और उन्हें आंदोलन के लिए उतारु होने पर मजबूर कर दिया है।

आजादी के शुरुआती दिनों में ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ए0आई0टी0यू0सी0 ने मजदूरों की बदहाली दूर करने के लिए मजदूरों को अपना नेतृत्व प्रदान किया। सितम्बर 1947 में ए0आई0टी0यू0सी0 में शामिल कांग्रेस गुट ने इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। 1948 तक समाजवादियों और एम0एन0 राय के नेतृत्व वाले इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर ने खुद को ए0आई0टी0यू0सी0 से अलग कर लिया और हिन्द मजदूर संघ नामक एक अलग संगठन बना लिया। इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस में ऐसी यूनियन थी, जो विभिन्न स्थितियों में विकसित हुईं थीं जिसके कारण ये मजदूर–प्रबन्धक संबंध के अलग–अलग दृष्टिकोणों से देखते थे। इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का एक उद्देश्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना था। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस ऐसा कुछ नहीं कर पायी क्यों कि इसके अंदर राष्ट्रीयकरण को लेकर स्वयं बहुत से विवाद थे। कांग्रेस की नजदीकी ने इसे कई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लाभ भी पहुचाएं हैं और यही कारण है कि इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने सरकार के आदेशों का पालन करना प्रारम्भ कर दिया।

1960 में बम्बई में केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के एक सम्मेलन में संयुक्त संघर्ष परिषद की स्थापना हुई। इसमें ऑल इण्डिया रेलवेमेन फेडरेसन, नेश्नल फेडरेशन ऑफ पोस्ट एण्ड टेलिग्राफ एम्पलाईज़, ऑल इण्डिया डिफेन्स इम्पलाइज़ फेडरेशन और कान्फीड्रेशन ऑफ सेन्ट्रल गावर्नमेंन्ट इम्पलाइज़ के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया और जुलाई 1960 में हडताल का आहवाहन किया। इसमें मुख्य मांगें थीं– पहले वेतन आयोग की सिफारिशों के आधार पर महंगाई भत्ते का भुगतान करना, राष्ट्रीय स्तर पर एक न्यून्तम मजदूरी तय करना और कुशल, अकुशल और अर्धकुशल मजदूरों के बीच अंतर का तक्रपूर्ण निर्धारण। हडताल के इस ऐतिहासिक आह्वान को, जिसका सभी बड़ी राष्ट्रीय यूनियनों ने समर्थन किया था, अवैध घोषित कर दिया गया। पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों ने मजदूरों को गिरफतार किया, कई पुलिस की गोली से मारे भी गए। ऐसे दमन के बावजूद यह हड़ताल पांच दिनों तक चली।

सन् 1970 में जब भाकपा के दो टुकड़े हुए तो ए0आई0टी0यू0सी और सेंटर फार इंडियन ट्रेड यूनियन का जन्म हुआ जो क्रमशः भाकपा और माकपा से जुड़े हैं। यह यूनियन इस बात के समर्थक हैं कि संगठित मजदूर ही प्रगतिशील शक्तियों के कारक हैं तथा औद्योगिक संबंधों को मजदूर वर्ग के हितों को प्रदर्शित करना चाहिए। 1960 और 1970 के दशक में भाकपा सत्तारुढ़ कांग्रेस पार्टी के करीब हो गई थी जिसके कारण ए0आई0टी0यू0सी की समझ और कार्य नीति में बाधा आ रही थी। इस अवधि में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी ने यह आरोप लगाया कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी भटकाव का शिकार हो गयी है और वह वर्ग–संघर्ष नहीं बल्कि वर्ग– सहयोग के रास्ते पर चल रहा है। इसके कारण ए0आई0टी0यू0सी के अंदर सक्रिय भाकपा और माकपा कार्यकर्ताओं के बीच खाई बढ़ती गयी और माकपा के नेतृत्व ने एक अलग ट्रेड़ यूनियन संगठन ''सीटू'' सेन्टर फॉर इण्डियन ट्रेड यूनियंस बनाने का फैसला किया। सीटू एक जुझारु संगठन के रुप में ख्याति है पर इसका जुझारु रुप केवल भारी उद्योग और सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों तक सीमित है।

सन् 1970 के दशक में मजदूरों, सफेदपोश कर्मचारियों और स्कूल तथा कॉलेजों के अध्यापकों के अनेक जुझारु संघर्ष देखने को मिले। परन्तु इनमें से केवल वही संघर्ष हावी रहे जिन्हें केन्द्र और राज्य सरकार के कर्मचारियों ने ऑल

इण्डिया स्टेट गवर्नमेंन्ट इम्पलाइज़ फेडरेशन के नेतृत्व में चलाया था। केन्द्र सरकार के कर्मचारियों ने 19 सितम्बर, 1968 को हड़ताल कर दी। इनकी मांगें थी– मूल वेतन में महंगाई भत्ता शामिल करना, आवश्यकता आधारित न्यूनतम वेतन, मूल्यों में वृद्धि को पूरी तरह निष्प्रभावित करना। इस बार फिर हड़ताल पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

मई 1974 में लाखों रेल कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर दिया। रेल कर्मचारियों के समितियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय समन्यवय समिति बनाई गई ताकि संघर्ष को नेतृत्व दिया जा सके। इस प्रयास को भकपा, माकपा और जनसंघ से सबद्ध यूनियनों से समर्थन मिला। मजदूरों की मांगों थी कि वेतन को दुगुना किया जाए, अतिरिक्त मँहगाई भत्ता दिया जाए, सालाना बोनस का भुगतान हो, और रियायती दर पर अनाज तथा अन्य आवश्यक सामाग्री उपलब्ध कराई जाएं। इनमें से कुछ मांगें तो मान ली गयीं, लेकिन जो भी रियायतें मिलीं, वे सभी वस्तुओं के मूल्य में बेहताशा वृद्धि के कारण व्यर्थ हो गईं।

सन् 1980 के दशक में हड़ताल और तालबंदी के मामलों में वृद्धि हुई। ट्रेड यूनियन के गतिविधियों का लाभ संगठित क्षेत्र के निम्न–मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय कर्मचारियों और मजदूरों को मिला। इस अवधि में असंगठित क्षेत्र के मजदूर भी संगठित होने लगे। इस काल में बढ़ती कीमतों, आवश्यक उपभोक्ता सामाग्री की किमी और बढ़ती बेरोजगारी के खिलाफ देश के विभिन्न हिस्सों में आंदोलन हुए।

यह सिलसिला आज तक चलता दिखई देता है। सरकार के कई प्रयासों के बावजूद भी आज महंगाई जैसी कुछ समस्याओं का समाधान संभव नहीं हो पा रहा है। ऐसे में इन आंदोलनों की प्रासंगिकता आज तक बनी हुई है। इन आंदोलनों के कारण सरकार ने अपनी कई नीतियों में आवश्यक परिवर्तन भी किए हैं। इससे नीतियों को सुधारने की एक सतत् प्रक्रिया चलती रहती है।

बोध प्रश्न 4

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. सन् 1970 में ए0आई0टी0यू0सी के विभाजन के क्या कारण थे?

....
....
....
....
....
....

21.6 महिला/नारीवादी आंदोलन

किसी आंदोलन में महिलाओं की उपस्थिति मात्र ही उसे महिला या नारीवादी आंदोलन नहीं बनाती क्योंकि विश्व में हो रहे किसी भी आंदोलन में महिलाओं ने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया है, पुरुषों के समान न सिर्फ अपनी

उपस्थिति बनाई रखी बल्कि आंदोलन को सफल बनाने में साकारात्मक भूमिका का भी निर्वाह किया है। भारत के संदर्भ में भी देखें तो यही सत्य उभर कर हमारे समक्ष आता है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से ले कर किसान आंदोलन, मजदूर आंदोलन, दलित आंदोलन, इत्यादि में भी इनकी भूमिका को भलीभांति देखा जा सकता है। अतः केवल वही आंदोलन महिला या नारीवादी आंदोलन कहलाने योग्य होता है जिनमें महिलाओं की दयनीय स्थिति, उनके उत्पीड़न और अन्य महिला विरोधी सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठाई गई हो। ऐसे आंदोलन में महिलाओं की उपस्थिति से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण इन आंदोलनों में उठाए गए नारीवादी मुद्दे होते हैं जो इन्हें नारीवादी या महिला आंदोलन बनाते हैं। क्योंकि भारत में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए जो प्रथम कदम उठाए गए थे, वे पुरुषों के द्वारा ही उठाए गए थे जैसे सती प्रथा की समाप्ति के लिए राजा राममोहन रॉय ने आवाज उठाई तथा इस प्रकार के तमाम अन्य उदाहरण भी मिल जाते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि नारीवादी आंदोलन की श्रेणी में आने के लिए किसी आंदोलन में महिलाओं की उपस्थिति से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण उनके मुद्दे होते हैं।

हालाकि वर्तमान परिदृष्य में हम जिन नारीवादी आंदोलनों को देखते हैं उनमें महिलाओं ने भी अपनी उपस्थिति बनाए रखा है। परन्तु कुछ दशकों पहले ऐसी स्थिति नहीं थी और न ही ऐसा संभव था क्योंकि महिलाओं को घर की चार दिवारी में ही सुरक्षित समझने की सोच हम पर हावी थी जिससे उनके आंदोलन में भागीदारी की बात ही बेमानी लगती थी। महिला आंदोलन के प्रथम चरण में मुख्य रुप से महिलाओं में शिक्षा के अभाव और समाजिक कुप्रथाओं पर चोट की गयी। द्वितीय चरण की शुरुआत स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही हो जाती है जब भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं ने भी बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उपरोक्त मुद्दों के साथ–साथ कई अन्य मुद्दे भी उभर कर आए जैसे घरेलू हिंसा, कामकाजी महिलाओं का उत्पीड़न, भ्रूण हत्या, बलात्कार, आदि।

संगठनों की बात करें तो हम पाते हैं कि महिला संगठनों का गठन स्वतंत्रता से पूर्व ही हो गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कई अन्य संगठनों का भी गठन हुआ। परन्तु इनके द्वारा उठाए गए मुद्दे अलग–अलग थे। जैसा कि उपरोक्त पंक्ति में कहा जा चुका है कि स्वतंत्रता–पूर्व इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य महिलाओं की शिक्षा और सामाजिक कुरीतियों से रक्षा करना, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिलाना था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चाात् इनके कार्यों में विविधता आई और इनका ध्याान केवल महिला संबंधी मुद्दों से भी आगे बढ़ते हुए अन्य मुद्दों से भी जुड़ गया जैसे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारत की स्वतंत्रता, इसके बाद गरीबी उन्मूलन, महंगाई, घरेलू हिंसा, बलात्कार, आदि।

भारत में महिलाओं के तीन प्रमुख संगठन हैं– **ऑल इण्डिया वीमेन्स कान्फ्रेस (ए0आई0डब्ल्यू0सी0), नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वीमेन्स (एन0एफ0आइ0डब्ल्यू0), और ऑल इण्डिया डेमोक्रेटिक वीमेन्स एसोसिएशन (ए0आई0डी0डब्ल्यू0ए0)।** इनमें से किसी भी संगठन की कोई सीधी राजनीतिक संबद्धता नहीं है परन्तु व्यवहारिकता पर प्रकाश डालें तो समझा जा सकता है कि ऑल इण्डिया वीमेन्स कान्फ्रेस की संबद्धता कांग्रेस पार्टी से, नेश्नल फेडरेशन ऑफ इंडियन वीमेन्स की संबद्धता भाकपा से और ऑल इण्डिया डेमोक्रेटिक वीमेन्स एसोसिएशन की संबद्धता माकपा के साथ है। इन तीनों सगठनों की विचारधारा में अंतर हो या न हो परन्तु इनकी कार्यशैली में अवश्य अंतर देखा जा सकता है।

इनमें महिलाओं के उत्थान को लेकर अलग–अलग मान्यताएं हैं और इसी प्रकार राजनीतिक मुद्दों पर भी तीनों के विचार भिन्न–भिन्न हैं।

ऑल इण्डिया वीमेन्स कान्फ्रेस का गठन 1927 में ही हो गया था और इस संगठन ने भारत की स्वतंत्रता संग्राम में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक कल्याण है और इस संगठन ने महिलाओं के कल्याण से संबंधित कई कार्य किए हैं एवं सरकार पर दबाव भी डाला है। अन्य महिला संगठनों के साथ मिलकर ए0आई0डब्ल्यू0सी ने विशेष विवाह कानून और तलाक कानून 1955, अंतर्राज्यीय उत्तराधिकार कानून 1956 और दहेज कानून 1961 बनाने के लिए सरकार पर दबाव डाला।

राष्ट्रीय आंदोलन के समय कुछ कम्यूनिस्टों ने चाहा कि ए0आई0डब्ल्यू0सी एक अभिजात संगठन से रुपान्तरित होकर एक जन आधारित संगठन का रुप ले ले। 1954 में एन एफ आइ डब्ल्यू ने भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिका के बारे में एक अलग नजरिया पेश किया। इसका कहना है कि खास तौर पर महिलाओं के उत्पीड़न का मामला उत्पीड़क सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक ढ़ांचे का महज एक पहलू है जिसे असमान पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन भी मिला हुआ है।

एन0एफ0आई0डब्ल्यू0 ने सामाजिक कल्याण से जुड़ी गतिविधियों को महत्व दिया और साथ ही महिलाओं को अन्य समूहों के साथ राजनतिक मुद्दों पर संगठित करने का कार्य किया। यह समाज के अन्य उत्पीड़ित समूहों जैसे मजदूरों, किसानों, दलितों और आदिवासियों की हालत बेहतर बनाने के प्रति प्रतिबद्ध है। इसके अलावा इसने महिलाओं के एसी कई समस्याओं को भी उठाया है जिनमें वे बलात्कार और पुलिस अत्याचार की भुक्तभोगी रहीं हैं। 1972 और 1974 के मध्य इस संगठन ने अन्य महिला संगठनों के साथ मिलकर मूल्य–वृद्धि का सक्रीय आंदोलन भी चलाया।

ए0आई0डी0डब्ल्यू0ए0 1981 में एक राष्ट्रीय संगठन के रुप अस्तित्व में आया जिसका जनाधार मुख्यतः खेतिहर किसान, मजदूर और पेशेवर मजदूर थे। इस संगठन ने मुख्य रुप से महिलाओं के समान अधिकारों के संघर्ष के मुद्दे को अपने हाथ में लिया और इसके अलावा कुछ बुनियादी समस्याओं को पर भी प्रकाश डाला जैसे नागरिक सुविधाएं, जल आपूर्ति, पुर्नवास बस्यिों में नियमित परिवाहन सुविधा, आदि। अन्य संगठनों के मुकाबले इस संगठन ने दहेज प्रथा के मूल कारणों और इसके सामाजिक आधारों को समझने में अहम भूमिका निभाई और दहेज विरोधी कानूनों को बनाने और लागू करने के लिए सरकार पर दबाव भी बनाया।

हाल के वर्षों में महिला संगठनों द्वारा भ्रष्टाचार, घरेलू हिंसा आदि मुद्दों पर कानून बनाने तथा लागू करने के लिए सरकार पर आवश्यक दबाव बनाया गया। इसके साथ ही चाहे महंगाई का मुद्दा हो, आतंकवाद की समस्या हो, पर्यावरण संबंधी समस्या हो सभी क्षेत्र में इन महिला संगठनों की भूमिका को भली भांति चिन्हित किया जा सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि नारीवादी आंदोलन या महिला आंदोलन ने भारत के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी प्रदर्शित की है और इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि महिला संगठनों ने अपनी भूमिका को केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि आवश्यकता के अनुसार अपने उद्देश्यों में भी भारी

परिवर्तन कर प्रासंगिकता को बनाए रखा है। महिला सशक्तिकरण के साथ–साथ इन संगठनों ने प्रत्येक क्षेत्र में उभरती समस्याओं को अपना निशाना बनाया है।

बोध प्रश्न 5

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. भारत में महिलाओं के तीन प्रमुख संगठनों का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

2. हाल के वर्षों में महिला संगठनों द्वारा कौन–कौन से मुद्‌दे उठाए जा रहें हैं?

——————————————————————————————
——————————————————————————————
——————————————————————————————
——————————————————————————————
——————————————————————————————
——————————————————————————————

21.7 दलित और अन्य पिछड़ा वर्ग का आंदोलन

21.7.1 दलित आंदोलन

हाल के कुछ वर्षों में दलित आंदोलन राजनीति विज्ञान में केन्द्र में आ खड़ा हुआ है इसका कारण यह है कि पिछले कुछ चुनावों में इनकी राजनीतिक भागीदारी बढ़ी है और राजनीतिक दल, जो पहले से दलितों का संघटन करती आ रहीं थी, उन्होंने भी अपनी सक्रियता बढ़ाई है। वर्तमान परिदृश्य में देखें तो दलितों को लामबंद करने का श्रेय राजनीतिक दलों और विशेष रुप से क्षेत्रीय राजनीतिक दलों को जाता है जिन्होंने न सिर्फ दलितों के हितों को अपने राजनीतिक कार्यक्रम का प्रमुख हिस्सा बनाया बल्कि इसी आधार पर दलितों को लामबंद भी किया है। यदि राजनीतिक दलों के द्वारा किए गए प्रयासों को अलग करके देखें तो हमें यह भी मालूम होगा कि दलित आंदोलन केवल राजनीतिक दलों के कारण ही नहीं बल्कि कई ऐसे दलित नेताओं के कारण भी महत्वपूर्ण हो गया है जिन्होंने दलितों के हित को अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। इकाई के इस भाग में हम भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दलित आंदोलन को केन्द्र में रखकर अध्ययन करेंगे।

जब दलितों की बात आती है तो सबसे पहला प्रश्न यह आता है कि ये दलित हैं कौन? समाज में इनकी स्थिति क्या है? इन्हीं मौलिक प्रश्नों से शुरुआत करते हुए हम आगे बढ़ कर दलित आंदोलन का अध्ययन करेंगे। 'दलित' शब्द मराठी भाषा से उद्धृत है जिसका तात्पर्य है– ज़मीन या टुकड़ों में बंटा हुआ। इस शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय महाराष्ट्र के दलित पैंथर को जाता है जिन्होंने

इसे अनुसुचित जाति से जोड़ कर देखा है। बाद के वर्षों में यह प्रयास किया गया कि इस शब्द को और भी वृहद बनाते हुए इसमें अन्य समुदायों को भी शामिल कर लिया जाए। आज भी दलित शब्द को मुख्यतः अनुसुचित जाति से ही जोड़कर देखा जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार चतुर्वर्ण– व्यवस्था में यह वर्ग इस व्यवस्था से बाहर रखा गया था और इन्हे अति शुद्र या अवर्ण भी कहा जाता था। फिर भी कुछ ऐसे विद्वान हैं जो दलित वर्ग के अन्तर्गत अनुसुचित जनजाति आर अन्य पिछड़ा वर्ग को भी शामिल करके देखते हैं। दलित शब्द के अंतर्गत केवल निम्न जाति ही नहीं बल्कि निम्न वर्ग भी आते हैं जैसे ग्रामीण क्षेत्र में गरीब किसान, मजदूर, भूमिहीन मजदूर आदि तथा शहरी क्षेत्र में औद्योगिक मजदूर। परन्तु यहाँ पर हम केवल अनुसुचित जाति को ही दलित वर्ग के अन्तर्गात रखकर अध्ययन करेंगे।

भारत में वर्तमान में दलितों की कुल जनसंख्या भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत है जो कि सामाजिक, आर्थिक और और राजनीतिक रुप से पिछड़े हुए हैं। इनकी जनसंख्या का विस्तार अधिकतम् उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, पश्चिम बंगाल, तमिल नाड़, आंध्र प्रदेश और राजस्थान, उड़ीसा और महाराष्ट्र में अत्यधिक है। इतना ही नहीं बल्कि इनका विस्तार तो प्रत्येक विधान सभा और संसदीय क्षेत्रों में भी कमोबेश है और भारत के कुल मतदाताओं में इनका एक–तिहाई हिस्सा भी है। परन्तु यह चिन्ता का विषय है कि आज भी यह वर्ग उसी दयनीय अवस्था से गुजर रहा है जैसे वह पहले था। दलितों ने न सिर्फ अस्पृश्यता और सामाजिक संबंधों में अलगाव को बर्दाश्त किया है, बल्कि कई आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कठिनाइयों, अत्याचार और उत्तपीड़न को भी सहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलितों के कल्याण संबंधी कई नीतियाँ बनाई गईं और कई कार्यक्रमों की शुरुआत की गई परन्तु आज भी इनकी दशा में कोई विशेष अंतर नहीं आ सका है। ऐसे में आंदोलनों के माध्यम से दलितों ने अपने हक की लड़ाई शुरु की। क्योंकि सरकार द्वारा उठाए गए कदम केवल दलितों में अभिजन वर्ग के कल्याण तक ही सिमट कर रह गई। परन्तु इसका एक सकारात्मक पक्ष यह रहा कि दलित अभिजन वर्ग कम से कम जाति आधारित भेद–भव को खत्म करने में साकारात्मक भूमिका अदा कर रहा है और साथ ही दलितों को लामबंद करने में भी कामियाब हुआ है।

महाराष्ट्र में ज्योतिबा राव फूले ने दलितों के लिए आवश्यक सुधार की मांग की परन्तु यह मांग केवल सुधार तक ही सीमित रही जब कि सन् 1920 में बी0 आर0 अम्बेडकर ने दलितों के प्रति किए जाने वाले अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाई और साथ–साथ उन्हे एकजुट करने का भी प्रयास किया। अम्बेडकर ने दलितों के लिए ही कांग्रेस से भी अपनी दूरी बना ली और सन् 1919 से ले कर लगभग साढ़े तीन वर्षों तक उनका साथ दिया। हालाकि कांग्रेस भी दलितों की हालत सुधारने की इच्छुक थी परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर था। अम्बेडकर का मानना था कि जब तक जाति व्यवस्था को खत्म न कर दिया जाए तब तक दलितों की स्थिति नहीं सुधरने वाली और न ही छुआछुत से उन्हें मुक्ति मिल सकेगी। इसलिए उन्होने सन् 1942 में अखिल भारतीय अनुसुचित जाति संघ (ए0आई0एस0एफ0) का निर्माण किया। इससे पहले भी उन्होने कई संगठनों का निर्माण किया था जिसमें भारतीय मजदूर पार्टी सबसे प्रमुख था जिसका उद्‌देश्य केवल दलितों को ही नहीं बल्कि भारतीय समाज के अन्य शोषित वर्गों के लिए भी आवाज उठाना था। इसके लिए उन्होंने औद्योगिक मजदूरों और खेतीहर मजदूरों को एकजुट करने का प्रयास किया क्योंकि उन्हें ऐसा लगा कि बिना एक बड़ी संख्या के कोई आवाज़ उठा पाना कठिन होगा।

दूसरी तरफ ए0आई0एस0एफ0 को भी 1946 और 1951 के चुनाव में हार का मुंह देखना पड़ा और अम्बेडकर की मृत्यू के पश्चात् यह पार्टी भी अपना अस्तित्व खो बैठी। 1957 में रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया का निर्माण हुआ। इस पार्टी ने लोकतांत्रिक ढ़ंग से संविधान में उल्लिखित व्यवस्था को सम्मान देते हुए अपनी बात रखने का प्रयास किया। इस पार्टी ने महाराष्ट्र में और कुछ स्तर तक उत्तर प्रदेश में अपनी स्थिति मजबूत बनाने का प्रयास किया परन्तु इस पार्टी की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि इसके सदस्यों में ही तनाव उभरने लगे और कुछ पार्टी के सदस्य तो कांग्रेस में भी जा मिले जिससे पार्टी पूरी तरह विखण्डित हो गई। इसके पश्चात् महाराष्ट्र में दलित पैंथर नामक एक संस्था का भी उदय हुआ जिसने नवयुवकों को अम्बेडकर और मार्क्स के विचारों से प्रेरणा लेने के लिए उत्तप्रेरित किया परन्तु इसका हाल भी वही हुआ जो आर0पी0आई0 का हुआ था। यह भी पूरी तरह विखण्डित हो गया।

सन् 1978 में कांशी राम ने ही बामसेफ का निर्माण किया जो केन्द्र सरकार के पिछडे तथा अल्पसंख्यक कर्मचारियों का एक संघ था। इसका मुख्य ध्येय कमज़ोर वर्गों के अभिजन वर्ग को एकजुट करना था जिनहोंने आरक्षण का लाभ उठाकर समाज में अपनी खोई गरिमा हासिल की थी। इस संगठन ने बसपा के निर्माण के लिए आर्थिक और संगठनात्मक आधार तैसार किया। सन् 1981 में कांशी राम द्वारा डी0एस0 4 का भी निर्माण किया। इसके निर्माण का उद्देश्य समाज के उन तबको को भी अपने साथ मिलाना था जो बामसेफ से अछूते रह गए थे। इस संगठन ने खूब रैलियाँ कीं और जन समर्थन हासिल किया। अंततः 14 अपैल 1984 में कांशी राम ने बहुजन समाज पार्टी की नींव रखी, जिसने पुनः दलित आंदोलन में जान फूक दी। इसके बाद उन्होंने मायावती के रुप में अपना एक और सबल समर्थक प्राप्त किया, जिन्होंने पार्टी को न सिर्फ उत्तर प्रदेश में बल्कि संपूर्ण उत्तरी भारत में अपार सफलता दिलाई। इतना ही नहीं बल्कि इस पार्टी ने तो केन्द्र की राजनीति में भी बहुजन समाज का पर्चम फहराया।

बसपा के राजनीतिक सफर से यह स्पष्ट है कि आज भी दलित आंदोलन की तीव्रता और गतिशीलता बनी हुई है। एक राजनीतिक दल के संरक्षण में दलित आंदोलन को नयी शक्ति मिली है।

21.7.2 अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन

''अन्य पिछड़ा वर्ग'' संविधान के द्वारा उस वर्ग के रुप में परिभाषित किया गया है जो सामाजिक तथा शैक्षणिक रुप से पिछड़ा है अर्थात अपना विकास नहीं कर सका है। यह वर्ग मुख्य रुप से किसानों, कास्तकारों और नौकरीपेशे वाला वर्ग है। यह वर्ग विविधता से परिपूर्ण है, जिसके अंर्तगत यादव, कुर्मी, कोइरी, गुज्जर, जाट, आदि आते हैं जो कि उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और हरियाणा एवं मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पाए जाते हैं। आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाड़ में कापुस, कामस, रेड्डी, वोकालीगास, लिंगयात, मुदलियार आदि आते हैं। गुजरात और महाराष्ट्र में इस वर्ग का प्रतिनिधित्व पाटिल, कोली, क्षत्रीय और मराठा जाति करते हैं। इस वर्ग में इतनी विविधता है कि इसी वर्ग की कुछ जातियाँ अति पिछड़े वर्ग में आते हैं। और इस वर्ग में निरन्तर कुछ अन्य जातियाँ भी शामिल होती रहती हैं जैसे 1999 में राजस्थान सरकार ने और सन् 2000 में उत्तर प्रदेश सरकार ने जाट समुदाय को अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल कर लिया।

यह वर्ग भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् अस्तित्व में आया जब यह पाया गया कि अनुसुचित जाति तथा अनुसुचित जनजातियों की श्रेणी के अलावा भी कुछ

ऐसे वर्ग हैं जोकि पिछड़े थे और उन्हें किसी भी एक वर्ग में रखना उचित नहीं था। इसलिए अन्य पिछड़ा वर्ग इन वर्गों के लिए प्रयोग किया जाने लगा। इन वर्गों के अभिउदय के कुछ प्रमुख कारण थे जैसे– भूमि सुधार, जमींदारी प्रथा का अंत, चकबंदी, हरित क्रांति तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए बनाई गई विभिन्न नीतियाँ जिसने इस वर्ग का और भी विस्तार किया है।

जब अन्य पिछड़े वर्गों के आंदोलन की बात आती है तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत में इसकी शुरुआत अलग–अलग समय और परिस्थितियों में हुई है दक्षिण भारत में इसका आगाज़ बहुत पहले हुआ। यह आंदोलन केवल सरकारी नौकरियों में आरक्षण के लिए नहीं था, बल्कि इन्हे लामबंद करने का उद्देश्य ब्राहमणवाद का विरोध करना और राजनीतिक तौर पर अपनी स्थिति सुदृढ़ करना था।

दक्षिण भारत में पिछड़े वर्ग का आरक्षण 1960 के दशक में ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु उत्तरी भारत में इसकी शुरुआत 1970 के दशक में ही हो पाई। आंदोलन के रुप पिछड़े वर्ग को लामबंद करने का श्रेय सर्वप्रथम ई0वी0 रामास्वामी नायकर को जाता है जिन्होंने 1920 और 1940 के दशकों के मध्य आत्म–सम्मान आंदोलन चलाकर ब्राहमण–राज के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया। इस आंदोलन में द्रविड़ों को ही देश का वास्तविक नागरिक बताया गया। इसी प्रकार एम0सी0राजा ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए 1916 में आदि द्रविड़ महासभा के अध्यक्ष बने और 1928 में अखिल भारतीय शोषित वर्ग संघ की भी अध्यक्षता की।

भारत में अन्य पिछड़े वर्गों का आंदोलन एक ऐसे राजनीतिक परिप्रेक्ष में उभरा जिसमें कई राजनीतिक नेताओं ने और राजनीतिक दलों ने इन्हें एकजुट करने के लिए आरक्षण का मुद्दा उठाया। यहां पर भी यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही हो गया था परन्तु उतरी भारत में इसकी शुरुआत स्वतंत्रता के बाद से हुई जिनमें चौधरी चरण सिंह, कर्पुरी ठाकुर तथा बिहार और उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टियां जैसे समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय जनता दल आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वर्तमान में पिछड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, नितीश कुमार जैसे नेता कर रहे हैं। काका कालेलकर आयोग और बी0पी0 मण्डल आयोग का गठन और मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू कराना इस आंदोलन का ही एक विजित रुप है। वर्तमान में यह वर्ग इतना सक्रीय हो गया है कि कोई भी राजनीतिक दल इन्हें नजरअंदाज करने की स्थिति में नहीं है। राष्ट्रीय दलों से लेकर प्रांतीय दलों तक सभी अन्य पिछड़ा वर्ग की शक्ति को पहचान चुके हैं। यही वजह है कि भारत में अन्य पिछड़ा वर्ग को 27 प्रतिशत आरक्षण मिल सका और बाद में उच्च शिक्षण संस्थानों में भी इनके लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई।

बोध प्रश्न 6

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. दलित शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

____

----

2. अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन से जुड़े नेताओं का नाम लिखिए।

21.8 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि आजादी के बाद के काल में अन्याय और शोषण के खिलाफ गाँवों की गरीब जनता, किसनों, जनजातियों, महिलाओं और मजदूरों ने व्यापक स्तर पर आंदोलन किए। अधिकांशतः ये आंदोलन स्वतः ही प्रस्फूटित हुए हैं और कभी कभी ये संगठित रुप से भी उभरे हैं। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दे इन आंदोलनों के उदय के मुख्य कारण रहे हैं। किसान, जनजातीय और मजदूरों के ज्यादातर आंदोलन आर्थिक मुद्दों से संबंधित रहे हैं जैसे वेतन वृद्धि, न्यूनतम मजदूरी, वनों तथा वन्य–उत्पाद पर अपना नियंत्रण स्थापित करना, समर्थन मूल्य में वृद्धि, सस्ते दामों पर खाद, हाईब्रीड़ बीज उपलब्ध कराने की मांग, आदि। वहीं दूसरी तरफ महिलाओं का आंदोलन आर्थिक होने के साथ–साथ सामाजिक आंदोलन रहा है जिसमें महिलाओं ने अपने सामाजिक अधिकारों की मांग उठाई और साथ ही पुरुषों के समान आर्थिक अधिकारों की भी मांग की।

भारतीय लोकतंत्र में इस प्रकार के आंदोलनों का अपना एक अलग महत्व रहा है। इस प्रकार के आंदोलनों ने यह दर्शाया है कि भारतीय लोकतंत्र वास्तव में एक सजीव लोकतंत्रिक व्यवस्था है जहाँ समाज के हर वर्ग के व्यक्ति को अपनी बात कहने और सरकार पर दबाव बना कर अपनी बात मनवाने का पूरा–पूरा अधिकार है। इतने विरोधों और संघर्षों के बावजूद भारत की अखण्डता और एकता आज भी कायम है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कभी–कभी यह आंदोलन भारतीय एकता के लिए एक चुनौती के रुप में भी उभर के सामने आए, परन्तु शांतिपूर्ण आंदोलन केवल अपनी बातों को सुने जाने या सुनाने के एक साधन मात्र के रुप में देखा जाना चाहिए। इससे देश की जनता के मन में छिपे आक्रोश का भी पता चलता है जिससे सरकार को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने का अवसर भी मिलता है।

आंदोलनों के संदर्भ में जो महत्वपूर्ण बात उल्लेखनीय है वह यह है कि वर्तमान में कुछ नए आयाम भी उभरते नज़र आ रहे हैं जैसे आंदोलनों का क्षेत्रीय रुप और केवल क्षेत्रीय ही नहीं बल्कि ग्रामीणों में भी अभिव्यक्ति की चाह क्यों कि कई आंदोलन और खास कर किसान आंदोलन अब किसी शहरी नेता या नेतृत्वकर्ता की ताक में चुप नहीं बैठते, वे अपनी आवाज सरकार तक पहुँचाने में खुद ही सक्षम हो गए हैं।

21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डी0एन0 धनगरे, ''पीजेन्ट्स मुवमेन्ट्स इन इण्डिया 1920–50'', आक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983

गुडावर्थी, अजय, ''पालिटिक्स आफ पोस्ट सिविल सोशाइटि– कंटेम्पोरारी हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल मुवमेंट्स इन इण्डिया'', सेज पब्लिकेशन इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2013

एम0एस0ए0 राव, ''सोशल मुवमेंट्स इन इण्डिया'', मनोहर, दिल्ली, 1978

ए0 आर0 देसाई, ''पिजेन्ट्स स्ट्रगल इन इण्डिया'', आक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1979

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

माक्र हालस्ट्राम, ''इंडस्ट्री एण्ड इनिक्विटीः सोसियल एन्थ्रोपॉलॉजी आफ इण्डियन लेबर्स'', ओरियंट लांगमैन, दिल्ली, 1985

हेरोल्ड क्राफ, ''ट्रेड युनियन्स एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', मानकतोलाज, बंबई, 1966

राधाकारी चटर्जी, '' यूनियन्स पॉलिटिक्स एण्ड द स्टेटः ए स्टडी ऑफ लेबर पॉलिटिक्स'', साउथ एशियन पबलिसर्स, दिल्ली, 1980

21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. आंदोलन को सामाजिक परिवर्तन लाने का एक अच्छा साधन माना जाता है। आंदोलन का रुप धारण करने के लिए किसी भी सार्वजनिक आवाज़ या लोगों की मांग को संगठित रुप से अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। प्रत्येक आंदोलन का कुछ निश्चित लक्ष्य अवश्य होते हैं जिनके बिना आंदोलन की प्रासंगिकता पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाता है। आंदोलन की शुरुआत के लिए सबसे आवश्यक कारक एक संगठन का होना है। आंदोलन एक सतत् प्रक्रिया की ओर इशारा करती है प्रत्येक आंदोलन की कोई निश्चित विचारधारा और लक्ष्य होता है। आंदोलन सदैव संकट काल में ही होता है। आंदोलन कभी भी केवल सैद्धान्तिक नहीं हो सकता इसमें क्रियात्मकता अवश्य होती है।

2. आंदोलनों के अध्ययन के लिए मुख्यतः उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

बोध प्रश्न 2

1. 1960 के दशक का महत्वपूर्ण किसान आंदोलन नक्सलबाड़ी आंदोलन था जो कि 1967 से 1969 तक चला। इस इलाके के 60 प्रतिशत किसान बटाईदार थे। ग्राम समितियों ने यह आंदोलन संचालित किया। नक्सलबाड़ी आंदोलन का मुख्य उद्देश्य मजदूरों और किसानों को शोषण

के प्रति जागरुक करना, उनके बीच कृषि क्रांति की राजनीति का प्रचार करने और एक गुप्त पार्टी का गठन करना था। यह फैसला किया गया कि वह– जोतेदारों के जमीन जब्त करे लेंगे, उन बागान मजदूरों की भी जमीन जब्त करेंगे जिन्होंने गरीब किसानों से जमीन खरीदी थी, इन जमीनों पर खेती करेंगे और जोतेदारों से जब्त की गई ज़मीन की सारी फसल स्वयं रख लेगे पर बगान मजदूरों की जमीन से पैदा फसल का आधा हिस्सा उन्हें दे देंगे। किसानों ने अस्थायी मुक्त अंचल कायम कर लिया जिन पर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की देखरेख में कई हफतों तक अधिकार बना रहा। परन्तु फिर भी किसानों और जमींदारों के बीच हुए संघर्षों और पुलिस के हस्तक्षेप से किसानों का यह आंदोलन कुचल दिया गया और इसमें सैकड़ों किसान मारे भी गए। इसलिए क्योकि कम्यूनिस्टों ने जमींदारों की हत्या का अभियान शुरु किया तो किसान भी अलग–थलग होने लगे।

2. तेलंगाना संघर्ष मुख्य रुप से देशमुखों और नवाबों द्वारा की जाने वाली गैर–कानूनी वसूली के विरुद्ध शुरु हुआ था और बाद में इसमें किसानों के कर्ज़ को माफ करने की मांग भी शामिल कर दी गई। भूमिहीन मज़दूरों और गरीब किसानों ने इस आंदोलन को मुख्य समर्थन दिया। आंध्र प्रदेश के तेलंगाना में छोटे–छोटे किसानों की हालत बहुत खराब थी। जमींदार उन्हें मज़दूरी करने के लिए विवश करते थे। इसके अलावा जमींदारों ने काश्तकारों से जमीन खली भी करा ली थी क्योंकि उन्हें यह भय था कि कहीं दखल करने के अधिकार के कारण काश्तकार ज़मीन पर कब्ज़ा न कर लें। 1950 के दशक में इस शोषण से बचने के लिए विभिन्न गावों में कई समितियाँ बनीं। इसी दशक में हड़ताल की छिट–पुट घटनाएं हुईं। पुलिस की सहायता से उनके इस आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया गया और उनके सभाओं का दमन करने के लिए पुलिस ने गोलियाँ भी चलाईं। इन घटनाओं ने अंततः तेलंगाना संघर्ष का रुप ले लिया जिसमें लगभग 300 गाँवों में बड़े–बड़े जमींदारों के जमीनों पर कब्जा कर लिया गया और इसे किसानों तथा मजदूरों के मध्य बाँट लिया गया।

बोध प्रश्न 3

1. जनजातियों का तात्पर्य लोगों के ऐसे समूह से है जो प्राचीन जीवन शैली को मानते हैं और मुख्यधारा से स्वयं को अलग कर अपनी विशिष्ट जीवन शैली और संस्कृति को बनाए रखने में विश्वास रखते हैं। जनजातियों को सामान्य भाषा में वन्य जाति, आदिवासी, आदिम जाति, गिरिजन आदि नामों से भी जाना जाता है।

बोध प्रश्न 4

1. 1960 और 1970 के दशक में भाकपा सत्तारुढ़ कांग्रेस पार्टी के करीब हो गई थी जिसके कारण ए0आई0टी0यू0सी की समझ और कार्य नीति में बाधा आ रही थी। इस अवधि में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी ने यह आरोप लगाया कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी भटकाव का शिकार हो गया है और वह वर्ग–संघर्ष नहीं बल्कि वर्ग– सहयोग के रास्ते पर चल रहा है। इसके कारण ए0आई0टी0यू0सी के अंदर सक्रिय भाकपा और माकपा कार्यकर्ताओं के बीच खाई बढ़ती गयी और माकपा के नेतृत्व ने एक अलग ट्रेड़ यूनियन

संगठन ''सीटू'' सेन्टर फॉर इण्डियन ट्रेड यूनियंस बनाने का फैसला किया।

बोध प्रश्न 5

1. भारत में महिलाओं के तीन प्रमुख संगठन हैं– ऑल इण्डिया वीमेन्स कान्फ्रेस (ए0आई0डब्ल्यू0सी), नेस्नल फेडरेशन आंफ इंडियन वीमेन्स (एन0एफ0आइ0डब्ल्यू), और ऑल इण्डिया डेमोक्रेटिक वीमेन्स एसोसिएशन (ए0आई0डी0डब्ल्यू0ए)।

2. हाल के वर्षों में भारत के महिला संगठनों द्वारा भ्रष्टाचार, घरेलू हिंसा, बलात्कार, महंगाई, इत्सादि मुद्दे उठाए जा रहे हैं।

बोध प्रश्न 6

1. 'दलित' शब्द मराठी भाषा से उधृत है जिसका तात्पर्य है– ज़मीन या टुकड़ों में बंटा हुआ। इस शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय महाराष्ट्र के दलित पैंथर को जाता है जिसने इसे अनुसुचित जाति से जोड़कर देखा है। बाद के वर्षों में यह प्रयास किया गया कि इस शब्द को और भी वृहद बनाते हुए इसमें अन्य समुदायों को भी शामिल कर लिया जाए।

2. आंदोलन के रुप पिछड़े वर्ग को लामबंद करने का श्रेय सर्वप्रथम ई0 वी0 रामास्वामी नायकर को जाता है। एम0सी0राजा ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया। उतरी भारत में इसकी शुरुआत स्वतंत्रता के बाद से हुई जिनमें चौधरी चरण सिंह, कर्पुरी ठाकुर,मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, नितीश कुमार का नाम उल्लेखनीय है।

इकाई 22

राजनीतिक समूहः प्रेस, व्यवसाय, छात्र और किसान

इकाई की रुपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 राजनीतिक समूह–अर्थ, विशिष्टताएं

22.3 भारत में प्रेस

22.4 भारतीय व्यवसायिक समूह

22.5 भारत में छात्र समूह

22.6 किसान समूह

22.7 सारांश

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक समूहों की भमिका का अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा। इस इकाई में निम्नलिखित समूहों का अध्ययन किया जाएगा– प्रेस, व्यवसायिक समूह, छात्र और किसानों के समूह। उपरोक्त के अध्ययन से आपको –

- ➢ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में उनकी भूमिका का भी ज्ञान होगा।
- ➢ विभिन्न राजनीतिक समूहों को जान सकेंगे।
- ➢ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में समूहों के महत्व का बोध हो सकेगा।

22.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति में समूहों का अपना विशिष्ट स्थान है जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को और भी जीवंत बना देता है। किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था की सबसे सटीक पहचान तभी की जा सकती है जब उस राज्य की जनता राजनीति में अपनी उपसिथिति दर्ज कराती हो। अन्यथा राजनीति केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथ का खिलौना बन कर रह जाता है जिन्हे हम अभिजन वर्ग कहते हैं। राजनीति की सक्रीयता का पता तभी चल पाता है जब उस राज्य की जनता समूहों के द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिए पूर्ण रुप से स्वतंत्र महसूस करे। उनकी आवाज़ को दबाने के वजाय उन्हे सुनने और उनकी समस्याओं को दूर करने का प्रयास किया जाए।

किसी समूह की रचना तब होती है जब एक समान हितों वाले लोग आपस में एकजुट होकर अपनी बात दूसरों के सामने रखने के लिए स्वतंत्र हों। इस प्रकार जिस समूह का निर्माण होता है वह केवल किसी एक व्यक्ति के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि वह संपूर्ण सदस्यगण के हितों को ध्यान में रखकर कार्य करता है। जैसे छात्र समूह केवल उसके नेता के हितों का ध्यान नहीं रखते बल्कि संपूर्ण छात्र समुदाय के हितों के लिए संघर्षरत होते हैं। इसी प्रकार कोई मजदूर और किसान समूह क्रमशः मजदूर वर्ग और किसान वर्ग के हितों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आता है और उनके हतों के लिए संघर्षरत रहता है। ये समूह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार पर आवश्यक दबाव भी बनाते हैं और इस प्रकार अपने हित साधने में सफल हुए हैं। लोकतंत्र में ऐसे समूहों का बड़ा महत्व होता है इसलिए हम वतर्मान में कई प्रकार के समूहों को देख सकते हैं जो अपने विशिष्ट हितों के लिए अपनी आवाज बुलंद करते हैं। सरकार की कई नीतियों के निर्माण और स्थगन के लिए ऐसे कई समूह सक्रीय देखे जा सकते हैं। ये समूह आमतौर पर प्रत्यक्ष राजनीति से जुड़कर ही कार्य करते हैं, अर्थात ये चुनाव लड़ने और चुनाव में प्रयक्ष रुप् से खड़े होने से परहेज करते हैं परन्तु राजनीति में इनकी सक्रीय भागीदारी देखी सकती है। ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से किसी राजनीतिक दल के समर्थन से संचालित होते हैं या चुनाव में प्रत्यक्ष रुप से किसी राजनीतिक दल का समर्थन भी करते हैं।

राजनीतिक समूहों को दबाव समूहों से इस प्रकार अलग करके देखा जा सकता है कि राजनीतिक समूहों का निर्माण राजनीतिक दलों द्वारा किसी विशिष्ट समुदाय में अपनी पकड़ को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है जाकि चुनाव में उस समुदाय का मत हासिल किया जा सके जबकि हित समूह और दबाव समूह केवल अपने हितों की पूर्ती के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं। सभी दबाव समूह किसी न किसी राजनैतिक दल से जुड़े होते हैं।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में राजनीतिक समूह एक प्रभावी भूमिका का निर्वाह करते हैं जिसके कारण इनका अध्ययन करना अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इस इकाई में हम भारतीय राजनीति में समूहों का अध्ययन करेंगे और उनकी भूमिका पर प्रकाश डालेंगे।

22.2 राजनीतिक समूह– अर्थ, विशिष्टताएं

राजनीतिक समूह का तात्पर्य उन समूहों से है जो प्रत्यक्ष रुप से राज्य की राजनीति से जुड़े होते हैं। ये समूह विभिन्न प्रकार के व्यवसाय अथवा वर्गों से संबंधित हो सकते हैं। भारत में इस प्रकार के कई समूह देखने को मिलते हैं जो कि भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये समूह विभिन्न प्रकार से राजनीतिक निर्णयों को अपने हित में प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। अमेरिका में भी इस प्रकार की व्यवस्था देखने को मिलती है जहाँ विभिन्न प्रकार की लॉबी सक्रीय हैं और वे बिना किसी शोर–शराबे के अपने हितों की सुरक्षा करने में सक्षम भी होते हैं। भारत में ऐसे रराजनीतिक समूह छात्रों, प्रेस, व्यवसायिक समुदाय और कृषकों के मध्य देखे जा सकते हैं। जो कभी तो लॉबी के द्वारा, कभी नौकरशाही को प्रभावित कर, कभी योजनाओं के निर्माण को प्रभावित तथा अपने अनुकूल बनाने का दबाव डाल कर संपूर्ण राजनीति को प्रभावित करते हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण व्यवसायिक समूह हैं जो आज की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे समूहों की अनदेखी किसी भी पार्टी की सरकार नहीं कर सकती। स्थिति तो यह है कि ये समूह किसी न किसी

राजनीतिक दल से न सिर्फ जुड़े हुए हैं बल्कि उन्हे चुनाव के समय वित्तीय सहायता भी प्रदान करते हैं और बदले में नीतियों को अपने हितों की रक्षा के लिए प्रयोग करते हैं।

22.3 भारत में प्रेस

प्रेस विचारों के आदान–प्रदान का एक व्यापक माध्यम है जिसे विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन के तौर पर देखा जाता है। यह विभिन्न मुद्दों पर विचारों के आदान– प्रदान करने का एक ऐसा साधन है जिसे ज्ञानार्जन का सरलतम उपाय भी माना जाता है। भारत या किसी भी लोकतांत्रिक राज्य में इसकी भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्यों कि लोकतंत्र सही मायने में तभी लोकतंत्र कहलाता है जब इसमें लोगों को अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने में कोई बंदिश न हो। सामान्य तौर पर लोकतंत्र को एक ऐसी व्यवस्था के रुप में देखा जाता है जिसमें लोगों को निश्चित अवधि के बाद मतदान करने का अधिकार प्राप्त होता है। परन्तु लोकतंत्र का यह अर्थ बहुत ही संकुचित है क्योकि जबतक लोगों को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर न मिले और उन्हे पाँच वर्षों का इंतजार करना पड़े तब तक उस व्यवस्था को लोकतांत्रिक कहना गलत होगा। इसलिए प्रेस को लोकतंत्र का तीसरा स्तम्भ भी कहा गया है। इसके अभाव में लोकतंत्र तानाशाही से कम नहीं रह जाएगा।

प्रेस जनचेतना का विस्तार करने का सबसे अच्छा साधन माना जाता है जो सार्वजनिक मामलों से लोगों को न सिर्फ अवगत कराता है बल्कि उन्हें सार्वजनिक मामलों में सोचने के लिए विवश भी करता है। कई सामाजिक परिवर्तनों को अमली जामा पहनाने, व्यवस्था की कमियों को उजागर कर उनपर बहस की शुरुआत करने और समाज को एक नई दिशा दिखाने का कार्य भी प्रेस करता है। प्रेस जनमत तैसार करने का एक बेहतर साधन है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में प्रेस की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। स्वतंत्रता सेनानियों ने प्रेस की मदद लेकर लोगों को ब्रिटिश शासन की शोषणकारी नीतियों से अवगत कराया और उन्हे आंदोलन करने के लिए प्रेरित भी किया। संपूर्ण भारत को एक करने का कार्य प्रेस के द्वारा ही किया गया क्योकि भारत का क्षेत्रफल इतना व्यापक है कि देश के एक कोने में हो रही घटनाओं का दूसरे कोने में कोई जानकारी ही नहीं हो पाती थी। परन्तु प्रेस ने संपूर्ण भारत को भारतवासी होने का आभास कराया और उन्हे शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। गांधी, गोखले और तिलक जैसे स्वतंत्रता सेनानियों ने प्रेस का भरपूर प्रयोग किया क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि कलम तलवार से भी ज्यादा शक्तिशाली होती है। प्रेस के माध्यम से राज्य की दमनकारी नीतियों का विरोध किया गया। यही कारण था कि ब्रिटिश काल में प्रेस पर भी नियंत्रण लगाया गया था और कड़ी निगरानी में ही प्रेस संचालित हो पाते थे। प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखकर स्वतंत्र भारत में भी प्रेस की स्वतंत्रता को सुनिश्चि करने का प्रयास किया गया और संविधान में भी प्रेस की स्वतंत्रता के लिए प्रावधान किए गए हैं।

भारत में प्रेस समूहों के गठन की आवश्यकता तब पड़ी जब सरकार द्वारा इस पर कई प्रतिबन्ध लगाए जाने लगे। प्रेस का सबसे पहला प्रतिनिधित्व तब दिखा जब 1819 में कई अधिकारियों ने लॉर्ड हैस्टिंग्स को लार्ड वेलज़ली द्वारा प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों को खत्म करने पर बधाई देने पहुँचे। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने प्रेस पर समय– समय पर कई प्रतिबंध लगाए थे। इन्हीं प्रतिबंधों के विरुद्ध सर्वप्रथम 1819 में पहला भारतीय प्रेस संघ बनाया गया।

1910 में बने प्रेस कानून के विरुद्ध कई राजनेताओं ने तथा समाचार पत्रों के सम्पादकों ने प्रदर्शन किया तथा प्रेस पर लगाए गए अलोकतांत्रिक प्रतिबंधों को खत्म किए जाने के लिए भी आवाज उठाई। भारतीय प्रेस संघ ने भारतीय वायसराय लॉर्ड चेम्सफॉर्ड पर दबाव भी बनाया और उन्हें ज्ञापन भी सौंपा।

1920 के दशक के शुरुआती दौर में ही कई प्रेस संघ बने मुख्य रुप से बम्बई तथा कलकत्ता में। अन्य प्रांतों में भी कुछ छोटे– छोटे संघों का निर्माण किया गया।

1930 के मध्य तक किसी ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो इन समाचार–पत्रों के व्यवसायिक हितों की रक्षा कर सके। अंततः 1939 में कई बिन्दुओं पर विचार करने के बाद ''भारतीय तथा पूर्व समाचार–पत्र सोसाईटी'' (प्दकपंद ंदक म्ेंजमतद छमूेचंचमत ैवबपमजल) का निर्माण किया गया। यह एक केन्द्रीय संगठन के रुप में स्थापित किया गया जो अखिल भारतीय स्तर पर समाचार–पत्रों के व्यवसायिक हितों को ध्यान में रख कर कार्य करेगा। इस संगठन की शुरुआत 14 समाचार–पत्रों से हुई और इसके बाद सैकड़ों समाचार–पत्र इसके सदस्य बने। इसके अंतर्गत 11 भाषाओं के समाचार–पत्र तथा पत्रिकाओं को शामिल किया गया। इसका कार्य मुख्य रुप से सम्पादकों तथा प्रचार करने वाली कम्पनियों के मध्य के संबंधों को सुधारना था। इसी संगठन की बदौलत ही प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया तथा आडिट ब्युरो ऑफ सरकुलेशन का निर्माण हुआ जो आज इससे स्वतंत्र रुप से कार्य कर रहे हैं।

1940 में ''अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक कॉन्फरेंस'' (।सस प्दकपं छमूेचंचमतेष् म्कपजवतेष् ब्वदमितमदबम) का गठन हुआ। इसका गठन भारतीय तथा पूर्वी समाचार पत्र सोसाइटी के ही कुछ सदस्यों ने मिल कर किया था। 1940 के अंत में गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन के संबंध में समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगाए गए कि वे इस समाचार का कोई प्रचार– प्रसार न करें। इसे ले कर ही अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक कॉन्फरेंस का गठन हुआ था। इस कॉन्फरेंस ने विश्व युद्ध से संबंधित खबरों को प्रकाशित करने के अधिकार के लिए सरकार से बैठक की और यह अधिकार भी प्राप्त कर लिया, परन्तु इसके साथ यह आश्वासन भी दिया कि कोई ऐसा समाचार प्रकाशित नहीं किए जाएंगे जो जनता को उद्वेलित कर दे।

प्रांतीय स्तर पर इसके कई सलाहकारी समितियाँ भी थीं जिनके माध्यम से कई प्रांतों में बंद किए जा रहे समाचार पत्रों या प्रतिबंधित किए जा रहे समाचार पत्रों को पुनः चलाया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब भारत–पाक सम्बन्धों में कई समस्याएं उभरीं तो 1950 में भारतीय और पाकिस्तानी प्रेस के प्रतिनिधियों के मध्य ए0आई0एन0ई0सी0 ने एक सम्मेलन आयोजित किया और यह सुनिश्चित किया गया कि भारत–पाक संयुक्त प्रेस समिति (प्दकव.चं श्रवपदज च्तमे ब्वउउपजजमम) का निर्माण किया जाए जो दोनों के मध्य संबंधों को सुधारने तथा प्रेस द्वारा जिम्मेदाराना रवैया अख्तियार करने के लिए कार्य करे।

इस कॉन्फरेंस ने पत्रकारों की दशा सुधारने पर भी विशेष बल दिया तथा इनके लिए एक निर्धारित मासिक वेतन के लिए भी आवाज उठाई। इसके प्रयासों से ही अंग्रेजी पत्रकारों को रु0 100 प्रतिमाह तथा क्षेत्रीय पत्रकारों को रु0 75 प्रतिमाह देने का फेसला किया गया। लेकिन पत्रकारों ने इसका विरोध किया और

सभी पत्रकारों को समान वेतन देने की मांग की। बाद में इस मामले को सुलझा लिया गया।

हाल के वर्षों में इस कॉन्फरेंस ने कई सकारात्मक कार्य किए हैं। जिसने भारतीय प्रेस की प्रतिष्ठा और निष्पक्षता को बचाए रखा है। इसके द्वारा ही विदेशों में आयोजित पत्रकारों के सम्मेलनों में भारतीय पत्रकारों को चुना और भेजा जाता है।

इस क्रम में इण्डियन फेडरेशन ऑफ वर्क्रिंग जर्नलिस्ट्स का गठन भी 1950 में हुआ तथा इसकी स्थापना के बाद कई राज्यों जैसे महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश में भी कई क्षेत्रीय संघों का निर्माण किया गया। उत्तर प्रदेश में यू0पी0 वर्क्रिंग जर्नलिस्ट्स यूनियन का गठन तो सन् 1942 में ही हो गया था। जब विश्व युद्ध संबंधी समाचारों पर रोक लगाई गई थी।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि भारत में कई प्रेस संघ बने हैं जो प्रेस की स्वतंत्रता और पत्रकारों के हितों की रक्षा के लिए निरंतर कर्यरत है। वर्तमान में भी प्रेस पर कई सवालिया निशान लगाए गए हैं जिनसे निपटने के लिए ये संघ प्रयासरत रहते हैं। भारतीय राजनीति में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका इनके समक्ष अपने छवि और सम्मान को बचा कर लोकतंत्र के प्रति एक सकारात्मक भूमिका निभाने की चुनौती पेश करती है। इन सभी चुनौतियों से निपटने के लिए प्रेस द्वारा बनाए गए इन संघों ने भी अहम भूमिका निभाई है और प्रेस को लोकतंत्र का एक चौथा स्तभ बनाए रखा है।

बोध प्रश्न 1

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थान भरें:

   क. प्रेस –––––– का विस्तार करने का सबसे अच्छा साधन माना जाता है।

2. एक वाक्य में उत्तर दीजिए:

   क. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में भारतीय नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है?

   ––
   ––
   ––
   –––––––––––––––––––––––––––––––––

   ख. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में भाषण और अभिव्यक्ति के अधिकार पर अंकुश लगाए गए हैं?

   ––
   ––

____

____

____

22.4 भारतीय व्यवसायिक समूह

व्यवसायिक समूह संस्थागत समूहों का ही एक प्रकार होता है। व्यवसायिक समूहों की बात करें तो ये समूह विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोगों के व्यवसायिक हितों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आए। भारत में औद्योगिक और व्यापारिक तबके का अस्तित्व स्वतंत्रता से पूर्व ही देखा जा सकता है। स्वतंत्रता पूर्व ये व्यवसायिक तबका असंगठित था क्योंकि इनकी समस्याएं अलग–अलग थीं और सभी व्यवसायी और उद्योगपति अपने हितों से ही मतलब रखते थे। परन्तु जब ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सभी व्यवसायिक वर्गों पर खतरा मंडराने लगा तो इन्होंने लामबंद होकर संगठन का रुप धारण कर लिया। आपसी मतभेदों को दरकिनार करते हुऐ एक वर्गीय पहचान बना लिया। अपने हितों की रक्षा के लिए उद्योगपतियों ने एक निश्चित कार्यप्रणाली की भी शुरुआत कर दी। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उद्योगपति ब्रिटिश सरकार पर निर्भर थे परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद इनमें टकराव पैदा हो गया। जब स्वतंत्रता संग्राम की शुरुआत हुई तो इन उद्योगपतियों ने अपनी कार्यप्रणाली को निश्चित करते हुए स्वयं को कांग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार के मध्य हो रहे टकराव से दूर रखा, कांग्रेस की हर उस नीतियों का समर्थन किया जो उनके हित में थी। कांग्रेस से मिल कर नीतिगत फैसलों को अपने हित में करने का प्रयास किया और प्रतिनिधि सभा में अपने हितों के लिए सदैव संघर्षरत रहे।

भारत में व्यापारिक समूहों के निर्माण का इतिहास 19वीं शताब्दी से आरम्भ होता है। जब 1833 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यपापरिक एकाधिकार का अंत हुआ तो ब्रिटेन के कई व्यापारी भारत में व्यापार के उद्देश्य से आए। इससे भारत के व्यापारियों के समक्ष और कठिनाइयाँ आने लगीं। ऐसे में अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए भारतीय व्यापारियों ने भारत के विभिन्न व्यवसायिक केन्द्रों में जैसे मद्रास, बम्बई, कलकत्ता आदि में कई औद्योगिक संगठनों का निर्माण किया। संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक संगठन बंगाल नेश्नल चैम्बर आफ कामर्स था जिसकी स्थापना 1887 में हुई। इस संगठन में लगभग 35 व्यापारिक हितों का प्रतिनिधित्व किया गया। इसी प्रकार 1907 में बम्बई में इंडियन मर्चेन्ट चैंबर का तथा 1909 में द सदर्न इंडिया चैंबर आफ कामर्स का निर्माण हुआ।

प्रो0 एस0एम0 सईद ने अपनी पुस्तक ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'' में लिखा है कि कई ऐसे भी संगठन थे जिनका गठन किसी विशिष्ट पहचान के आधार पर हुआ था जैसे क्षेत्रीय पहचान के आधार पर अपनी व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए बंगाल में नेश्नल चैंबर आफ कामर्स का निर्माण जो मुख्यतः बंगला व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आया। 1932 में ही बंगाल के मुस्लिमों ने मुस्लिम चैंबर ऑफ कामर्स का निर्माण किया था। इस प्रकार यह भी देखा जा सकता है कि व्यापारिक हितों के संरक्षण के प्रश्न पर भी पहचान की राजनीति हावी थी जिसने इस प्रकार के संगठनों का निर्माण कराया।

उपनिवेशवाद के अंत के बाद इन समूहों को योजना से संबंधित कार्यक्रमों के आधार पर चलना पड़ा जिसके लिए यह आवश्यक हो गया कि भारत सरकार की नीतियों का समर्थन किया जाए। इसलिए उद्योगपतियों ने पंच–वर्षीय योजनाओं

को अपना पूरा समर्थन दिया ताकि विकास के लिए मार्ग प्रशस्थ हो सके। समस्या यह थी कि पंच–वर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया क्योंकि सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्रों के विकास के माध्यम से अर्थव्यवस्था को सुधारने का कार्यक्रम अपनाया ताकि देश की जनसंख्या को इसका पूरा लाभ मिल सके। ऐसा करने की घोषणा से व्यापारिक वर्ग बहुत आशंकित था क्योंकि इससे निजी क्षेत्र पर खतरा मण्डराने लगा था। इन्हीं कारणों से इन उद्योगपतियों ने संगठित होकर अपनी आवाज़ उठाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार कई संगठन अस्तित्व में आए और कई अन्य का भी विकास प्रारम्भ हुआ। और इन व्यावसायिक समूहों में से सबसे महत्वपूर्ण समूह इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (एफ0 आई0 सी0 सी0 आई0) है जो आज भी उद्योगपतियों के हितों के लिए निरन्तर कार्य कर रहा है।

भारत में राष्ट्रीय स्तर पर मुख्यतः तीन महत्वपूर्ण व्यापारिक संघ हैं–

1. असोसिएटेड चैंबर ऑफ कामर्स
2. फेडरेशन आफ इण्डियन चैंबर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की)
3. आल इण्डिया मैनुफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन

असोसिएटेड चैंबर ऑफ कामर्स भारत के पहले व्यापारिक संगठनों में से एक है जिसकी स्थापना सन् 1920 में हुई थी। इस संगठन की सदस्यता विभिन्न व्यवसायिक क्षेत्रों से देखी जा सकती है। स्वतंत्रता के बाद जब भारत में स्थापित अनेक ब्रिटिश कम्पनियों की बागडोर भारतीयों के हाथों में आई तो व्यापारिक समूहों पर भी इसका विशेष प्रभाव देखने को मिला। असोसिएटेड चैंबर ऑफ कामर्स भी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् काफी परिवर्तित हुआ। इसकी सदस्यता में बहुत वृद्धि हुई। परन्तु इसके हितों के संरक्षण की विधि में परिवर्तन आया और यह माना जाता है कि आज यह संगठन बहुत ही शांतिपूर्ण तरीके से अपने मांगों को आगे बढ़ाता है। यह किसी भी प्रकार से आंदोलन का समर्थक नहीं है बल्कि एक दबाव समूह के रुप में कार्य करता है और मंत्रियों और उच्चाधिकारियों को प्रभावित कर अपना कार्य करवाता है।

सन् 1927 में फेडरेशन आफ इण्डियन चैंबर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की) की स्थापना हुई और यह देश का सबसे बड़ा व्यापारिक संघ है। इसके संस्थापक जी0डी0 बिरला थे। इस संगठन में लगभग 600 से अधिक व्यापारिक तथा व्यक्तिगत कंपनियाँ हैं। यह संगठन पूर्णरुप से भारतीय माना जाता है जब कि असोसिएटेड चैंबर ऑफ कामर्स पूर्ण रुप से भारतीय नहीं माना जाता। आर्थिक दृष्टि से भी यह सबसे मजबूत संघ माना जाता है। यह संगठन इतना प्रभावशाली है कि इसके वार्षिक अधिवेशनों में अधिकांशतः प्रधानमंत्री संबोधन करते हैं। यह संगठन अन्य दबाव समूहों की श्रेणी में सबसे ऊपर है क्योंकि यह सीधे कैबिनेट स्तर पर दबाव बनाकर अपने हितों का संरक्षण करता है और साथ ही गोष्ठियों के आयोजन के माध्यम से कई व्यापार संबंधी तथा उद्योग संबंधी समस्याओं पर चिन्तन भी करता है। सन् 1986 में इस संगठन में प्रभाव के विस्तार से संबंधित विवादों के कारण फूट पड़ गई और फेडरेशन आफ इण्डियन चैंबर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री दो टुकड़ों में बंट गया। इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर के नेतृत्व में फिक्की के 15 सदस्य टूट गए जिससे संगठन कुछ कमजोर हो गया।

आल इण्डिया मैनुफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन की स्थापना भारत रत्न एम0 विश्वेश्वराय के द्वारा की गई थी। यह एक ऐसा संगठन है जो औद्योगीकरण के

माध्यम से विकास पर बल देता है। इस संगठन को भारत सरकार तथा अन्य राज्य सरकारों के द्वारा किसी औद्योगिक नीति के निर्माण में बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाता है तथा इससे सलाह ली जाती है। इस संगठन में भी विविध क्षेत्र के उद्योग शामिल हैं चाहे वो दवाओं से संबंणित हो या प्रौद्योगिकी से या अन्य किसी क्षेत्र से।

इन संगठनों द्वारा सरकार पर विभिन्न प्रकार से दबाव बनाए जाते हैं जैसे ये संगठन लॉबी के माध्यम से अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए संसद तथा राज्य की विधान सभाओं तक अपनी पहुँच बनाए हुए हैं और अपने हितों के लिए सरकार तथा विपक्ष पर दबाव बनाते हैं। वे अपना अधिकतम समय योजना आयोग के निर्णयों को प्रभावित करने में लगाते हैं क्योंकि भारत में योजना आयोग विकास का रास्ता प्रशस्थ करने वाली एकमात्र उच्चस्तरीय संस्था है। न सिर्फ इतना बल्कि इन संगठनों ने तो हर संभव प्रयास करके नौकरशाही को भी प्रभावित करने का प्रयास किया है। प्रेस के माध्यम से भी ये सरकार पर दबाव बनाते हैं और व्यवसायिक से लेकर व्यक्तिगत संबंधों के माध्यम से भी अपनी पैठ बनाते हैं। भारत में ये व्यवसायिक समूह राजनीति में अहम भूमिका निभाते हैं चाहे वो चुनाव के दौरान राजनीतिक दलों को चुनाव लडने के लिए आर्थिक सहयोग करना हो या मंत्रिपरिषद के गठन के समय अपने हितों को ध्यान में रखते हुए इसका गठन कराना हो। कुछ विचारकों का तो यह भी मानना है कि इस प्रकार के संगठनों का वित्तमंत्री की नियुक्ति पर भी पूरा नियंत्रण होता है ताकि वित्त मंत्रालय के प्रत्येक निर्णय में इनके हितों की अनदेखी न हो।

भारत ने 1991 से ही निजीकरण, भू–मण्डलीकरण और उदारीकरण को अपना लिया है। ऐसे में ये व्यवसायिक समूह और भी मजबूत हो गए हैं क्योंकि इस दौर में भारत में विभिन्न प्रकार के व्यापारों की शुरुआत हुई जिससे विभिन्न प्रकार के रोजगार अवसरों का भी भण्डार सा लग गया जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था भी सुदृढ़ हुई है। इन परिस्थितियों में ये समूह और भी सक्रीय भूमिका निभाने की स्थिति में आ गए हैं।

उदारीकरण के दौर में राज्य का अर्थव्यवस्था पर नियंत्राण काफी कम हो गया है ऐसे में उद्योगपतियों की स्थिति काफी मजबूत हुई है और जो थोडी बहुत हस्तक्षेप की गुंजाईश है उसमें वे स्वयं सक्रीय भूमिका निभाते हुए अपने हितों की रक्षा कर लेते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की तमाम कमियों को दूर करने के लिए निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने की बात की जा रही है। ऐसे में व्यवसायिक समूहों और औद्योगिक समूहों का महत्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। आज हम निःसंदेह कह सकते हैं कि ये समूह न सिर्फ हमारी अर्थव्यवस्था बल्कि हमारी राजनीति में भी सक्रीय भूमिका अदा कर रहे हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. किसी एक महत्वपूर्ण व्यवसायिक समूह का नाम लिखिए।

   ——
   ——
   ————————————

2. भारत में व्यवसायिक समूहों द्वारा सरकार पर दबाव बनाने के कौन–कौन से तरीके हैं?

____

____

____

____

22.5 भारत में छात्र समूह

भारत में युवाओं की संख्या विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा सबसे ज्यादा है। जैसा कि हम जानते ही हैं कि लोकतंत्र में संख्याबल का सर्वाधिक महत्व होता है। छात्रों की अधिक संख्या ही उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया का अहम हिस्सा बना देती है। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी छात्रों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है और स्वतंत्रता के बाद भी भारत में छात्रों की यह सक्रियता बरकरार है। आज़ादी से पूर्व मुद्दा बिलकुल स्पष्ट था क्योंकि भारत की स्वतंत्रता ही सर्वप्रथम उद्देश्य हुआ करता था। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भी कई छात्र संगठन थे जैसे 1928 में बंगाल में छात्रों का संगठन अखिल बंगाल छात्र संगठन तथा अखिल भारतीय स्तर पर सन् 1936 में स्थापित अखिल भारतीय छात्र संघ, इत्यादि।

स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक दलों ने छात्र संगठनों के निर्माण पर विशेष बल दिया जैसे अखिल भारतीय छात्र कांग्रेस और बाद में भारतीय राष्ट्रीय छात्र संघ को कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था। स्टूडेंट्स फैड्रेशन साम्यवादी दलों के नियंत्रण में रहा। क्रांतिकारी छात्र संघ, लोकतांत्रिक छात्र संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद आदि सभी छात्र संघ किसी न किसी राजनीतिक दल से संबद्ध हैं। आज़ादी के बाद छात्र समूहों ने विभिन्न मुद्दों पर आंदोलन किया और कभी–कभी विभिन्न आंदोलनों का समर्थन किया जैसे कि 1960 के दशक में संयुक्त महाराष्ट्र समिति द्वारा उठाए गए अलग राज्य की मांग में छात्रों ने बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया था, सन् 1965 में मद्रास में भाषायी आंदोलन में छात्रों की भूमिका, 1965 में खाद्यान्न आंदोलन में इनका योगदान या 1970 के दशक में जय प्रकाश नारायण द्वारा चलाए गए संपूर्ण क्रांति में सक्रीय भागीदारी और पंजाब और असम में स्वायत्तता की मांग करने के लिए चलाए गए आंदोलन में छात्र समूहों ने बढ़चढ़ कर भाग लिया।

छात्रों का राजनीति में प्रवेश माध्यमिक विद्यालय–स्तरीय राजनीति से होता है। छात्र समूहों को राजनीति दलों का समर्थन मिल जाने से उनका मनोबल और भी बढ़ जाता है। वहाँ से उनकी राजनीति में सक्रीय भगीदारी की शुरुआत हो जाती है। विश्वविद्यालयों में छात्रों के मुद्दे केवल विश्वविद्यालय के प्रशासन या छात्रों की समस्याओं से जुड़े होते हैं परन्तु वहीं से उनका सफर राजनीति में भी शुरु हो जाता है। ये संघ किसी न किसी राजनीतिक दल से जा मिलते हैं और फिर उन्हीं दलों के लिए कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। वे छात्रों के मध्य पार्टी के प्रति चेतना जागृत करते हैं, उनकी नीतियों के लिए जन समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं चुनाव में उनके लिए कार्य करते हैं और इन सबके बदले उनके प्रभाव और वर्चस्व में वृद्धि भी होती है।

विश्वविद्यालयों में छात्र संघ चुनाव को लेकर कई बार राजनीतिक गहमागहमी भी हाती रही है परन्तु हर बार छात्र संघ चुनाव को अनुमति दे दी जाती है। वर्तमान में भारत के जो प्रमुख छात्र संघ हैं वे किसी न किसी राजनीतिक दल से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से संबद्ध हैं। वर्तमान में भारत में कई प्रमुख छात्र समूह देखे जा सकते हैं जो कि राजनीतिक दलों से संबद्ध हैं जैसे– अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (ए0वी0बी0पी0), जो कि भाजपा से संबद्ध है, नेशनल स्टूडेंट्स युनियन ऑफ इंडिया (एन0एस0यू0आई0) जो कि कांग्रेस से संबद्ध है, ऑल इंडिया रिवोल्युशनरी स्टूडेन्टस ऑर्गनाइजेशन जो भाकपा से, स्टुडेन्टस फेडरेशन ऑफ इंडिया जो भाकपा (एम) से, त्रिणमूल छात्र परिषद जो कि त्रिणमूल कांग्रेस से, भारतीय विद्यार्थी परिषद जोकि शिव सेना से, अखिल असम विद्यार्थी संघ जो कि असम गण परिषद से, गोरखा जनमुक्ति विद्यार्थी मोर्चा जो गोरखा जनमुक्ति मोर्चा से, बीजू छात्र जनता दल जोकि बीजू जनता दल से, छात्र जनता दल जोकि जनता दल से और इसी प्रकार ऐसे अनेक छात्र समूह हैं जिनका प्रयोग राजनीतिक दलों के द्वारा नवयुवको में अपने प्रभाव में विस्तार करने के लिए किया जाता है। छात्र समूहों में राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप एक बहुत बड़ी समस्या के रुप में भी देखा जा सकता है जो अपराधीकरण को बढ़ावा देता है।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद एक दक्षिणपंथी छात्र संगठन है जो हिन्दू राष्ट्रवाद को बढ़ावा देता है। हालाकि इसकी स्थापना 1948 में एक छात्र संगठन के रुप में हुई थी जिसका औपचारिक पंजीकरण सन् 1949 में हुआ, परन्तु यह छात्र संगठन केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रीयता के साथ काम करता है। परन्तु यह संगठन स्वयं इस बात से इनकार करता है कि यह दक्षिणपंथी पार्टी विशेष रुप से भारतीय जनता पार्टी का छात्र संगठन है। इस संगठन ने छात्रों के हित में कई कार्य किए हैं जैसे पुस्तक बैंकों का निर्माण करना, छात्रों को छूट्टी के दिनों में रोजगार देना, कई संगीत तथा वाद–विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन करना, खेल के क्षेत्र में छात्रों को बढ़ावा देना, सामाजिक चेतना का विस्तार करना, इत्यादि। यह संगठन मुख्य रुप से उत्तरी भारत में ही प्रभावशाली ढंग से कार्य कर रहा है और पश्चिम बंगाल के सीमार्वी क्षेत्रों में भी इसका काफी प्रभाव है।

इसी प्रकार एन0एस0यू0आई0 की स्थापना सन् 1971 में हुई थी जिसका कार्य छात्रों की समस्याओं के लिए आवाज उठाना और छात्रों के हितों को संरक्षण प्रदान करना है। इसके 75000 से भी अधिक कालेज सदस्य हैं। यह कहा जाता है कि यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी से संबद्ध छात्र संगठन है।

भारत में छात्र समूहों की भूमिका के संबंध में यह कहा जाता है कि ये छात्र समूह केवल विश्वविद्यालय स्तर की समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि आम मुद्दों पर भी सक्रीय भूमिका निभाते हैं। चाहे राष्ट्रीय मुद्दे हों या फिर अंतर्राष्ट्रीय मुद्दे, ये छात्र संगठन अपना समर्थन या प्रतिरोध व्यक्त करने और नीतियों की आलोचना करने संबंधी कई महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। आरक्षण से संबंधित मुद्दों पर इन संगठनों द्वारा चलाए गए कई अभियानों से इनकी उपस्थिति राष्ट्रीय स्तर पर तो दर्ज हो गई परन्तु इन छात्र आंदोलनों में भी राजनीतिक दलों का खासा प्रभाव देखने को मिलता है। आरक्षण के समर्थन और विरोध में खड़े कई छात्र संगठनों ने अपने प्रभावशाली प्रयासों का प्रदर्शन किया चाहे वो 1990 का आंदोलन हो या फिर 2010 का। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों में छात्र संघ की बहाली को लेकर भी राष्ट्रीय स्तर पर आंदोलन को देखा जा सकता है। कई सामाजिक मुद्दे जैसे भ्रुण हत्या, बाल विवाह, जाति अथवा धर्म से संबंधित

समस्याओं को दूर करने में भी इन समूहों ने सक्रीय भूमिका निभाई है। बलात्कार और हत्या के मामलों में भी प्रदर्शन करने से लेकर संगोष्ठियाँ आयोजित करने तक सभी प्रकार के कार्य इनके द्वारा किए जाते हैं। प्रश्न ये उठता है कि क्या इनके इन प्रयासों का कोई प्रभाव सरकार या इसकी नीतियों पर पड़ता है? जवाब है– हाँ। इन समूहों के द्वारा जो जनचेतना को जागृत करने का काम किया जाता है उससे सरकार पर भारी दबाव पड़ता है जिससे सरकार विवश होकर इन सामाजिक मुद्दों पर गहराई से विचार करती है।

छात्र समूहों का एक और पक्ष या समस्या है जिस पर प्रकाश डाले बिना इनका अध्ययन पूरा नहीं माना जा सकता। यह समस्या है छात्रसंघों और छात्रों में बढती हुई हिंसात्मक गतिविधियों और वर्तमान परिदृश्य में छात्र समूहों में भी यह प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है जो न तो विश्वविद्याालयों के हित में है और न ही देश हित में। इससे निपटने के लिए जे0एम0 लिंगदोह समिति ने सिफारिशें की थी कि छात्र चुनावों में छात्रों की अधिकतम् आयु को निधारित किया जाए तथा ऐसे विद्यार्थियों को चुनाव में खड़े होने का अवसर दिया जाए जो पढ़ने भी अच्छे हों अर्थात उनकी उपस्थिति से लेकर उनके परीक्षा परिणाम तक को ध्यान में रखा जाना चाहिए। समिति ने छात्र समूहों के राजनीतिकरण और अपराधीकरण को एक बहुत बड़ी समस्या मानते हुए इस मुद्दे पर आवश्यक कदम उठाने का भी सुझाव दिया।

छात्र समूहों के दोनो पक्षों पर विचार करने के उपरान्त हमें यह भी समझना होगा कि भारत में छात्र आंदोलन का बहुत सीमित प्रभाव ही देखा जा सकता है क्योंकि उपरोक्त कुछ मुद्दों को छोड़कर ज्यादातर आंदोलनों के मुद्दे प्रादेशिक या क्षेत्रीय मांगों से ही संबंधित होते हैं। ऐसे में किसी राष्ट्रीय छवि का निर्माण कर पाना इनके लिए कठिन होता है। भारत में जितने भी छात्र संगठन हैं उनमें कई वैचारिक मतभेद देखने को मिलते हैं जिससे राष्ट्रीय स्तर पर इनका एकीकरण हो पाना तथा इनके विचारों में तालमेल बिठा पाना कठिन हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि छात्र संगठनों में किसी विशिष्ट प्रकार की विचारधारा की कमी देखी जा सकती है जिससे इनका प्रभाव भी बहुत सीमित रहा है।

बोध प्रश्न 3

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थान भरें:

   क. 1960 के दशक में ———————————— ने अलग राज्य की मांग की।

   ख. 1965 में —————— तथा —————— आंदोलन हुआ था।

2. एक वाक्य में उत्तर दीजिए:

   क. स्वतंत्रता पूर्व छात्र संगठनों और समूहों का ऐजेण्डा क्या हुआ करता था?

   ——
   ——
   ——
   ——————————————————————————————————

ख. किन्हीं दो छात्र संगठनों का नाम लिखिए।

____
____
____
____
____

22.6 किसान समूह

भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी अधिकांश जनसंख्या आज भी कृषि को व्यवसाय के तौर पर अपनाए हुए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में कृषि की हालत बहुत बुरी थी जिसकी वजह से संपूर्ण अर्थव्यवस्था दुर्दशा की शिकार थी। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत इस क्षेत्र का केवल दोहन किया गया। अंग्रेजों ने इस क्षेत्र को केवल कच्चा माल प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रयोग किया। किसी भी प्रकार से इसके विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जिन उत्पादों से ब्रिटिश कम्पनी को लाभ था केवल उन्हीं की खेती कराई गई जिनमें कुछ तो ऐसे थे जो भूमि की उर्वरक क्षमता को ही प्रभावित करते थे जिससे भूमि बंजर हो सकती थी, जैसे नील की खेती। कृषि क्षेत्र में जमींदारी प्रथा का बोल बाला था जिसका तात्पर्य यह था कि कृषकों को दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता था। एक तरफ तो जमींदारों ने छोटे किसानों का जीना मुश्किल कर दिया था दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ भी शोषणकारी थीं। समस्या यह भी थी कि भूमिहीन मजदूरों का तो जीना ही दुश्वार हो गया था। अतः भारत सरकार को स्वतंत्रता के बाद काफी कुछ परिवर्तन करना था।

एक लम्बे समय तक चले शोषण के बाद भारत को स्वतंत्रता हासिल हुई। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार के समक्ष दो चुनौतियाँ थीं, पहली तो कृषि क्षेत्र की पैदावार को बढ़ाना और दूसरी चुनौती भूमि का समान रुप से पुनर्वितरण करने की व्यवस्था सुनिश्चित करना। सरकार ने कृषि क्षेत्र में मूलभूत सुधार लाने के उद्देश्य से सर्वप्रथम कृषि पर बल दिया और नवीन मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया। जमींदारी व्यवस्था को खत्म किया गया और अतिरिक्त भूमि को गरीब किसानों में वितरित कर दिया गया। भूमि सुधार पर बल देने के उद्देश्य से हरित क्रांति की भी शुरुआत की गई जिसके अंर्तगत खाद, कीट नाशक, अच्छे नस्ल के बीज, वैज्ञानिक तरीक़ों से खेती और सिंचाई की व्यवस्था की गई। परन्तु इससे अपेक्षित वर्ग अर्थात गरीब किसानों को विशेष लाभ न मिल सका क्योंकि इन किसानों के पास इतना पर्याप्त पैसा ही नहीं था कि वे इन विकसित उत्पादों का लाभ उठा सकें। इससे केवल उच्च या धनी किसानों को ही लाभ मिल सका जिनकी क्रय क्षमता अधिक थी। भूमि–सुधार के अंर्तगत चक–बंदी की भी व्यवस्था की गई जिससे बड़े–बड़े जमींदारों की अतिरिक्त भूमि पर कब्जा किया गया और गरीब किसानों में कुछ भूमि का वितरण किया गया। इस प्रकार सरकार द्वारा किए गए सारे उपाय किसानों को कोई विशेष लाभ न पहुँचा सके और उद्योग खेती पर हावी रहा। इस क्षेत्र में अपेक्षित विकास न होने का कारण यह था कि सरकार के सभी प्रयास चुनावी राजनीति और समीकाण बिठाने तक ही सीमित रह गए। जिन नेताओं ने किसानों का दामन थामा उनका भी कहीं न कहीं एक निहित स्वार्थ था जिसकी पूर्ति के लिए वे किसानों के मुद्दों को उछालने लगे। कुछ नेताओं ने तो इसका भरपूर लाभ भी उठाया परन्तु इनकी दुर्दशा में कोई परिवर्तन न हो सका।

किसानों ने अपनी दुर्दशा से त्रस्त होकर संगठित रुप से आवाज उठाना प्रारम्भ किया। 1970 के दशक में किसानों की आवाज में काफी भारीपन आया। अर्थात किसानों ने अपनी समस्याओं को काफी उपर तक पहुँचाया जिनमें मुख्य रुप से कृषि उत्पादों के मूल्य में बढ़ोत्तरी की मांग, बिजली की दरों में कटौती की मांग तथा समर्थन मूल्य में वृद्धि की मांग शामिल थी। इस आंदोलन को कई किसान समूहों और संगठनों ने आगे बढ़ाया जिनमें उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में भारतीय किसान युनियन, महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन और कर्नाटक में कर्नाटक राज्य रयोता संघ प्रमुख थे।

किसानों ने अपनी समस्या को देश के समक्ष रखने के लिए राजनीतिक दलों का भी सहारा लिया। राजनीतिक दलों जैसे कम्यूनिस्ट पार्टी (सी0पी0आई0 तथा सी0पी0आई0 एम0) और अन्य राजनीतिक दलों ने किसानों के हितों को सरकार के समक्ष रखा और किसानों के मुद्दों को अपने घोषणा–पत्र में भी शामिल किया। इन राजनीतिक दलों के नेतृत्व में विभिन्न आंदोलन भी हुए जैसे उत्तर प्रदेश में भूमि पर कब्जा स्थापित करने का आंदोलन, आंध्र प्रदेश में तेलंगाना आंदोलन, पश्चिम बंगाल में तेभागा आंदोलन और इसी प्रकार देश के विभिन्न राज्यों में आंदोलन चलाए गए। परन्तु राजनीतिक दलों द्वारा हित समूहन का यह प्रयास अगर निष्फल नहीं हुआ तो भी किसानों की स्थिति में विशेष सुधार न ला सका। परिणामस्वरुप किसानों ने स्वयं को राजनीतिक दलों से अलग कर लिया और अपनी मांगों को बलपूर्वक सरकार के सामने रखा और सरकार पर दबाव बनाने का भी प्रयास किया।

किसान समूहों की वास्तविक शक्ति का पता तब चला जब चौधरी चरण सिंह के जन्मदिन पर किसानों ने हजारों की संख्या में चरणसिंह को बधाई देने के लिए दिल्ली का रुख किया। इसके बाद कई स्वायत्त किसान समूह अस्तित्व में आए जिन्होंने अपने–अपने आंदोलन चलाए जैसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में भारतीय किसान यूनियन का गठन हुआ, महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन का आंदोलन, कर्नाटक के सीमावर्ती क्षेत्र में रास्ता रोको अभियान चलाया गया।

परन्तु एक जटिल समस्या यह थी कि धनी किसानों और गरीब किसानों में किसी बात को लेकर संगठन का निर्माण कठिन था क्योंकि इन दोनों वर्गों की समस्याएं अलग– अलग थीं। अतः सभी वर्ग के किसानों का लामबंद हो पाना एक चुनौती से कम नहीं था।

किसान समूहों द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों ने नया रास्ता भी अख़्तियार किया और अन्य समूहों की भांति इन्होंने भी गुटबाजी का सहारा लिया और संसद तक अपनी मांगों को पहुँचाने में समर्थ रहे जैसे किसानों की कर्ज माफी, फसलों का समर्थन मूल्य बढ़वाना, सिचाई की व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए नहरों और तलाबों की व्यवस्था करवाना, न्यूनतम मजदूरी तय करना, भूमि–सीमा से संबंधित कानून को समय समय पर पास कराना, इत्यादि।

दुःख की बात तो यह है कि इतना सब करने में सफल होने के बावजूद किसानों की हालत इतनी दयनीय रही है कि इन्हें आत्महत्या करने पर मजबूर होना पड़ता है। बुंदेलखण्ड़ और विदर्भ जैसे क्षेत्रों में किसानों द्वारा किए जा रहे आत्महत्या के प्रयास इस बात के संकेत प्रस्तुत करते हैं कि अब भी सब कुछ अच्छा नहीं है। बहुत कुछ करना अब भी शेष है। गत दस वर्षों में खेतिहर मजदूर कभी सूखे के कारण और कभी बाढ़ के कारण कठोर कदम उठाने पर मजबूर हो रहे हैं। हालाकि मनरेगा (महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना)

जैसी योजनाओं ने भूमिहीन मजदूरों को आमदनी का एक अच्छा श्रोत प्रदान किया है परन्तु यह कोई हल नहीं है क्योंकि मजदूरों का शहरों में पलायन तो कुछ हद तक कम हो गया परन्तु किसानों का मजदूर में तबदील होना आज भी जारी है। किसान अपनी खेती को त्याग कर मजदूरी करने पर विवश हैं। सब्जियों के दाम कम नहीं होते परन्तु लाभ किसानों को नहीं बल्कि बिचौलियों को मिलता है। उम्मीद यही है कि यह समूह कुछ ऐसे आंदोलनों की शुरुआत करें जिससे किसानों की दूर्दशा को सुधारा जा सके।

बोध प्रश्न 4

नोट– इन प्रश्नों का उत्तर नीचे दिए गए स्थान में दीजिए तथा इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मेल कीजिए।

1. किसान समूहों के किसी एक मांग का उल्लेख कीजिए।

____
____
____
____

2. रास्ता रोको अभियान कहाँ चलाया गया था?

____
____
____

____

22.7 सारांश

भारत में विभिन्न समूहों का अध्ययन करने के पश्चात यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था में ये समूह एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। ये समूह एक प्रकार से लोकतंत्र में जीवन डालने का काम करते हैं। लोकतंत्र जनता का तंत्र या शासन होता है जिसमें कानून बनाने से लेकर उनका क्रियान्वयन तक जनता के प्रतिनिधि ही करते हैं। परन्तु किन्ही परिस्थितियों में जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की जब अनदेखी होती है तो जनता विभिन्न समूहों के माध्यम से अपनी आवाज सरकार तक पहुँचाने का प्रयास करती है। यह केवल एक लोकतांत्रिक राज्य में ही संभव है क्योंकि अन्य किसी भी तंत्र में चाहे वो राजतंत्र हो या कुलीनतंत्र, चाहे तानाशाही हो या सर्वाधिकारतंत्र सभी में जनता की इच्छाओं को दबा कर सरकार या कोई व्यक्ति विशेष अपने हितों को साधने का प्रयास करता है। ऐसे में जनता की इच्छा पर आधारित कोई निर्णय लेने की बात हो या उनकी आवाज तक सुनने की बात हो, अर्थहीन लगती है।

राजनीतिक समूहों की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह तब लगता है जब ये समूह किसी ऐसी अनावश्यक मांग को लेकर सरकार पर दबाव बनाने का प्रयास करते हैं जो कि भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचना को चोट पहुँचाती हो। ऐसे में इन समूहों की नकारात्मक भूमिका प्रकट होती है। इन समूहों का राजनीतिकरण हो जाने पर समस्या और भी गंभीर हो जाती है। अर्थात जब इन समूहों के साथ राजनीतिक दल भी शामिल हो जाते हैं तो समस्याओं को जान

बूझ कर बढ़ा चढ़ा कर पेश किया जाता है और अपने स्वार्थ को साधने का प्रयास किया जाता है।

भारत में इस प्रकार के समूहों का राजनीतीकरण एक बहुत बड़ी समस्या बनती जा रही है जो न सिर्फ एक वर्ग विशेष के स्वार्थ को पूरा करती है बल्कि आवश्यक मांगों को भी राजनीतिक रुप से सरकार के समक्ष प्रस्तुत करती है जिससे समस्या का समाधान कर पना कठिन हो जाता है। जिन वर्गों के हितों की रक्षा के लिए ये समूह बने आज वे वर्ग ही असहाय सा महसूस करने लगे हैं। आए दिन किसानों के आत्महत्या के मामले सामने आ रहे हैं जो इस बात को साबित करते हैं कि एक तो सरकार इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ पाने में सक्षम नहीं हो रही और दूसरा, राजनीतिक दल और दलों तथा समूहों के नेता अपना उल्लू सीधा करने में जुटे हैं। यह इन समूहों के औचित्य पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देता है।

दूसरी ओर यदि व्यवसायिक समूहों और व्यापारिक समूहों की बात करें तो आज वे लोकतंत्र का पूरा–पूरा फायदा उठाने में सक्षम हैं। यह बार–बार इस ओर चिन्तन करने पर विवश कर देता है कि क्या केवल प्रभावशाली वर्ग की ही लोकतंत्र में सुनी जाती है? अगर ऐसा नहीं तो क्यों हमारा किसान वर्ग आज भी वैसी ही दूर्दशा का शिकार है?

लोकतंत्र में यदि समूहों और संगठनों के निर्माण की और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी गई है तो फिर निरन्तर चली आ रही इन समस्याओं का समाधान क्यों नहीं हो पा रहा है? क्या इस अधिकार का दुर्पयोग किया जा रहा है या फिर जो वास्तविक समस्याएं हैं वो सरकार तक पहुँचाई ही नहीं जा रहीं हैं? या फिर सरकार ही इन समस्याओं का समाधान करने में सक्षम नहीं है? ये कुछ ऐसे प्रश्न अब भी अनुत्तरित रह जाते हैं जिन पर चिन्तन करने और उनका समाधान ढूँढ़ने की आवश्यकता है।

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सईद, एस0एम0, '' भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

गुडावर्थी, अजय, ''पालिटिक्स आफ पोस्ट सिविल सोसाइटी– कंटेम्पोरारी हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल मुवमेंट्स इन इण्डिया'', सेज पब्लिकेशन इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2013

स्टेनले, एफ0 कोचेनेक, ''बिजनेस एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बक्रले, 1974

रुडॉल्फ, लिथ्यार्ड एवं सुसैन रुडॉल्फ, '' इन परसूट ऑफ लक्ष्मी– द पॉलिटिकल इकानॉमी ऑफ द इण्डियन स्टेट'' युनिर्वसिटी ऑफ शिकागो एण्ड ओरियंट लांगमैन,1987

ब्रास, पॉल0 आर0, ''द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इण्डिपेंडेंस'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2001

हसन, जोया, ''डोमिनेन्स ऑफ मोबिलाइजेशनः रुरल पॉलिटिक्स इन वेस्टर्न उत्तर प्रदेश, 1930–1980'', सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989

साह, घनश्याम, ''सोशल मुवमेंट्स इन इंडिया– ए रिव्यू आफ लिटरेचर'', सेज, नई दिल्ली, 2004

विलसन, जॉन, ''इन्ट्रोडक्शन टू सोशल मुवमेंट्स'', बेसिक बुक्स इन0, न्यूयाक्र, 1973

राव, एम0एस0ए0, ''सोशल मुवमेंट्स इन इंडिया– पिजेन्ट्स एण्ड बैकवार्ड क्लासेज मुवमेंट'', मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1979

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. क. जनचेतना

2. क. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(1) में भारतीय नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है।

   ख. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(2) में भाषण और अभिव्यक्ति के अधिकार पर अंकुश लगाए गए हैं।

बोध प्रश्न 2

1. फेडरेशन आफ इण्डियन चैंबर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की)

2. संसद और विधान सभाओं में लॉबी के माध्यम से, नौकरशाही पर दबाव बना कर, योजनाओं को प्रभावित करके और प्रेस के माध्यम से।

बोध प्रश्न 3

1. क. 1960 के दशक में संयुक्त महाराष्ट्र समिति ने अलग राज्य की मांग की।

   ख. 1965 में भाषाई तथा खद्यान आंदोलन हुआ था।

2. क. स्वतंत्रता पूर्व छात्र संगठनों और समूहों का ऐजेण्डे अंग्रेजों के नीतियों का विरोध तथा भारत की स्वतंत्रता हुआ करते थे।

   ख. ए0वी0बी0पी0 तथा एन0एस0यू0आई0

बोध प्रश्न 4

1. भूमि का पुनरावंटन, खाद तथा बीजों के दाम को घटाना।

2. कर्नाटक के सीमावर्ती क्षेत्रों में रास्ता रोको अभियान चलाया गया।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-102

भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 3

राजनीतिक प्रक्रिया

इकाई – 23 **113**

साम्प्रदायिकता एवं धर्म निरपेक्षता

इकाई – 24 **127**

भारतीय राजनीति में जाति

इकाई – 25 **139**

भाषा तथा क्षेत्रीय आंदोलन

इकाई – 26 **155**

भारत में विकास का राजनीतिक अर्थशास्त्र

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक／परिमापक

प्रो. एस.एम. सईद – सेवानिवृत (राजनीतिक विज्ञान) 3／184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू. प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई–23

साम्प्रदायिकता एवं धर्म निरपेक्षता

इकाई की रुप रेखा

23.0. उद्‌देश्य

23.1. प्रस्तावना

23.2 साम्प्रदायिकता अर्थ तथा परिभाषा

23.3. साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी तत्व

23.3.1 औपनिवेशिक विरासत

23.3.2 दलीय राजनीति व चुनावी राजनीति

23.3.3 सांस्कृतिक भिन्नता का दुरुपयोग

23.3.4 साम्प्रदायिकता के प्रमुख कारक

23.3.5 धर्म और राजनीति मे अंतः क्रिया

23.4 साम्प्रादयिकता को दूर करने के उपाय

23.5 धर्मनिरपेक्षता : अर्थ और प्रकृति

23.6 धर्मनिरपेक्षता का भारतीय स्वरुप

23.7 भारतीय सविधान मे धर्मनिरपेक्षता संबधी प्रावधान

23.8 धर्मनिरपेक्षता : समस्यायें एवं चुनौतियां

23.9 सारांश

23.10 कुछ उपयोगी पुस्तके

23.11 बोध प्रश्नो के उत्तर

23.0. उद्‌देश्य

वर्तमान समय में सम्प्रादायिकता भारतीय राजनीति की गंभीर समस्या है। इस इकाई के अध्याय से ज्ञात होता है कि

- साम्प्रदायिकता व धर्म निरपेक्षता का अर्थ क्या है?
- भारत में साम्प्रदायिकता के कारण क्या है?
- साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान क्या है?
- धर्मनिरपेक्षता का अर्थ क्या है तथा भारतीय सविधान मे धर्मनिरपेक्षता संबधी व्यवस्थाएं कौन सी है।

23.1 प्रस्तावना

सम्प्रदायिकता आधुनिक भारत के इतिहास की एक गंभीर समस्या है। देश के विभाजन ने इस समस्या को और बढ़ा दिया है। साम्प्रदायिकता के भारतीय समाज में प्रवेश पर बुद्धिजीवियो, समाजिक व राजनीतिक कार्यकताओं आदि ने गंभीर चिंता व्यक्त की है। सम्प्रदायिकता के कारणो एंव समाधान की अनेक व्याखाए की जाती है और इससे लड़ने के लिए अनेक सुझाव दिए जाते है। इस इकाई में सम्प्रदायिकता की समस्या, उसके कारणो तथा भारतीय सविधान में धर्मनिरपेक्षता पर विचार किया जाएगा तथा भारतीय सविधान मे धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या की जाएगी।

23.2. साम्प्रदायिकता–अर्थ और परिभाषा

साम्प्रदायिकता शब्द की उत्पति 'सम्प्रदाय' शब्द से हुई है। किसी भी समाज में धर्म के आधार पर विभिन्न सम्प्रदाय होते हैं। जैसे भारत में धर्म के आधार पर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, आदि विभिन्न सम्प्रदाय हैं। किसी धर्म विशेष या भाषा विशेष के लोगो को संगठित कर उनके उत्थान व सुधार के लिए कार्य करना साम्प्रदायिकता नही है। साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाए व क्रियाकलाप आ जाते हैं जिसमें किसी धर्म या भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाय। उन हितों को राष्ट्रीय हितों से अधिक प्राथमिकता दी जाय तथा उस समूह में पृथकता को भावना उत्पन्न की जाय या उसको प्रोत्साहन दिया जाय। पारसियों, जैनो, बौद्धों तथा ईसाइयों के अपने अपने संगठन है। वे संगठन अपने सदस्यों के हित साधना में लिप्त रहते हैं परंतु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक नही कहा जाएगा क्योंकि वे किसी पृथकता को भावना से प्रेरित नही है। इसके विपरीत मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद जैसे संगठनों को साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहो के अधिकारों व हितों को राष्ट्रीय हित के ऊपर रखते है। ''विन्सेन्ट स्मिथ के शब्दों में'' एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषाओं समूह को एक ऐसी इकाई मांगता है जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों या व्यक्ति समूह की विचारधारा को सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहा जाएगा''

जब एक समुदाय समझबूझकर धार्मिक सांस्कृतिक भेदों के आधार पर राजनीतिक मांगे रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रुप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। बहुधार्मिक तथा बहुसांस्कृतिक समाज में विभिन्न समूहों के बीच तनाव तथा टकराहट बने रहते हैं। परन्तु इस द्वन्द तथा टकराहट को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रुप में सम्प्रदायवाद का मूल सार है।

धर्म के आधार पर एकता साम्प्रदायिकता की परिघटना को सही धारणा नही कर सकती क्योंकि एक ही धर्म को मानने वाले विभिन्न समूह अपने सहधर्मियों के साथ संघर्ष करते रहे हैं। परन्तु जब प्रभावशाली चतुर राजनेता राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धर्म विशेष के लोगों को चाहे वह गरीब हो या अमीर भावनात्मक

आधार पर संगठित करते हैं तो साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। किसी सम्प्रदाय विशेष के लोगों द्वारा साम्प्रदायिक पहचान के आधार पर एकता की भावना साम्प्रदायिकता को एक विचारधारा से सामाजिक प्रक्रिया के रुप में बदल देती है।

साम्प्रदायिकता एक विशेष स्तर पर पहुंचकर साम्प्रदायिक हिंसा का रुप ले लेता है। भारत में साम्प्रदायिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष, जिसके बारे में समाज शास्त्री एक मत है, यह है कि यह शहरों में दिखाई पड़ती है। सम्प्रदायिकता की जड़े निम्न बुर्जुआ वर्ग में होती है। पिछड़े समाज में परम्परागत धर्म के प्रति सबसे अधिक आकर्षण इसी वर्ग में होता है। विश्व हिन्दू परिषद व जमाइते इस्लामी दोनों का ही आधार निम्न बुर्जुआ वर्ग है। इन समुदायों के उच्च वर्ग अपने–अपने समुदाय के निम्न बुर्जुआ वर्गों की धार्मिक भावनाओं का सफलतापूर्वक उपयोग कर अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। फलस्वरुप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर साम्प्रदायिकता का संकट सदैव छाया रहता है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पहले साम्प्रदायिक दंगे मुख्यतः नगरीय क्षेत्रों में होते थे परन्तु अब ग्रामीण क्षेत्रों में भी इसकी लपटें पहुंच चुकी है। इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिक ताकतों ने लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभारकर उन्हें संगठित व आक्रामक बनाने के लिए इलेक्ट्रानिक मीडिया का इस्तेमाल किया है। धार्मिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी में धार्मिक चैनलो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसी रणनीति ने राम जन्म भूमि, बावरी मस्जिद विवाद में प्रभावी ढंग से काम किया जिसके फलस्वरुप सम्पूर्ण देश साम्प्रदायिक तनावो से भर गया था।

23.3. साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी तत्व

साम्प्रायिकता बहु आयामी पेचीदा सामाजिक परिघटना है। इसलिए एक तत्व या कारण को ही साम्प्रदायिकता के लिए जिम्मेदार नही ठहराया जा सकता। इसके लिए उन अनेक तत्वों को खोज करनी पडेंगी जो कि साम्प्रदायिकता के उद्‌भव व विकास के लिए उत्तरदायी है।

23.3. 1. औपनिवेशिक विरासत

स्वाधीनता संघर्ष के दौरान दो प्रकार की विचारधाराएं थी–एक जो क्षेत्रीय, धार्मिक, जातीय व वर्गीय भावनाओं से लोगों को ऊपर उठाकर भारत को एक करना चाहती थी। तो दूसरी विचारधारा वह थी जो धार्मिक व जातीय आधार पर लोगों को बांटना चाहती थी तथा उपनिवेश वाद विरोधी संघर्ष से दूर रहती थी। हिन्दू महात्मा तथा जमाइते इसलामी जैसे संगठन दूसरी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। ये संगठन ओपनिवेशिक शासन के हथियार के रुप मे कार्य करते थे।

अग्रेजों ने भारत में 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाई ताकि वे हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाते रहे। अंग्रेजी शासन में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रुप मिलने का एक कारण यहां प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना की। अंग्रेजों ने भारत के अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या को इनके स्वाभाविक अस्तित्व बोध और एक दूसरे की आपसी वैमन्यस्ता की समस्या को समझा और उसका उपाय अलग–अलग धार्मिक समूहों को पृथक–पृथक प्रतिनिधित्व देने में समझा। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाइयों आदि को राजनीतिक सत्ता में अलग–अलग हिस्सा देकर उनके बीच मतभेद को बढ़ाया गया। मेहता व पटवर्द्धन के शब्दों में ''अंग्रेजी शासको ने अपने आपको हिन्दुओं और मुसलमानों के

मध्य खड़ा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसके आधार बिन्दु वे स्वयं रहे''।

1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनो ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया। चूंकि इस स्वतंत्रता संग्राम से पुनः मुगलशासन स्थापित करने की चेष्ठा की गयी इसलिए इसके विफल होने के बाद अंग्रेजो ने मुसलमानों के दमन व विरोध की नीति अपनायी लेकिन कुछ समय वाद हिन्दुओं के विकास, उन्नति व आधुनिकीकरण की बढती हुई प्रवृत्ति से अंग्रेज हिन्दुओं से डरने लगे तो उन्होंने मुसलमानों से मित्रता की नीति अपनायी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में भारतीय राष्ट्रवाद का तेजी से विकास हुआ जो कि प्राचीनकाल के हिन्दू गौरव से प्रेरित था। कांग्रेस के भीतर उग्र राष्ट्रवाद के प्रर्वतक बालगंगाधर तिलक विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपत राय ने जनता को संगठित व आन्दोलित करने के लिए हिन्दू धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया। इन उग्र राष्ट्रवादियों ने अपने को शिवाजी व महाराणा प्रताप जैसे नायकों से जोड़ा। शिवाजी व राणा प्रताप जुझारु योद्धा व स्वतंत्रता प्रेमी थे और वे मुगल शासकों के विरोधी थे। इस प्रकार ये नायक तो हिन्दू थे और दमनकर्ता मुस्लिम थे। तिलक द्वारा प्रारमी किए गए शिवाजी महोत्सव व गणपति उत्सव ने यद्यपि अंग्रेजों शासकों के विरुद्ध जनता को गोलबंद किया पर इससे मुसलमानों में संदेह पैदा हुआ और उन्होंने इन उत्सवों में भाग भी नही लिया।

मुसलमानों में बढते संदेह व अलगाव के फलस्वरुप 1893 में 'मोहम्मद एग्लो ओरियंटल डिफेन्स एसोसिएसन' की स्थापना हुई। मुसलमानों को खुश करने तथा उनकी राजभक्ति प्राप्त करने के लिए 1905 में लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। 1906 में ढाका में भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों तथा अन्य अधिकारों की रक्षा के नाम पर 'आल इंडिया मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई। मुस्लिम लीग ने व्यवस्थापिका सभाओं में आबादी से अधिक स्थान दिए जाने की मांग की। 1909 के मालै मिन्टो सुधारों में साम्प्रदायिक अधार पर मुसलमानों के लिए पृथक चुनावों की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। 1919_के एक्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्वति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा गया वरन् सिक्खों, यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीय समुदायों के लिए भी इसे अपना लिया गया।

1915 में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का पहला अधिवेश हुआ। हिन्दू महासभा ने हिन्दू धर्म को भारतीय राष्ट्रवाद का बुनियादी केन्द्र बताया। हिन्दू महासभा ने हिन्दू राजनीतिक एकता, हिन्दुओं के लिए शिक्षा तथा आर्थिक विकास तथा मुसलमानों को फिर से हिन्दू बनाने का अभियान चलाया। 1940 में मोहम्मद अली 'जिन्ना' ने द्विराष्ट्र सिद्वान्त का प्रतिपादन किया और अंत में 1947 में साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ।

23.3.2 दलीय राजनीति व चुनावी राजनीति

स्वाधीनता के बाद भी साम्प्रदायिक समस्या को बनाए रखने के लिए दलीय राजनीति व चुनावी राजनीति जिम्मेदार है। यह एक तथ्य है कि भारत के विभिन्न राजनीतिक दल चुनावी राजनीति को दृष्टि में रखते हुए न केवल साम्प्रदायिकता को स्वीकार करते है वरन् उसे उभारने का कार्य करते हैं। इन्हीं राजनीति दलों ने मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक दल के साथ केरल में गठबंधन किया। शाहबानों के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को पलटने के लिए राजीव गांधी सरकार ने जो कानून बनाया उससे हिन्दू व मुस्लिम दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकता को

बढ़ावा मिला। जिन प्रान्तों में मुस्लिम आबादी अधिक है वहां उन्हें संतुष्ट करने के लिए सरकारें ऐसा कार्य करती है जिससे हिन्दुओं के मन में आक्रोश पैदा होता है। राजनीतिज्ञों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिक दंगे कराए जाते हैं जिससे कि वे सम्प्रदाय विशेष का समर्थन व वोट हासिल कर सके।

साम्प्रदायिकता के लिए राजनीतिक दल कम दोषी नहीं है। साम्प्रदायिक दंगों सबंधी अनेक आयोगों के प्रतिवेदनों के विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि उन सभी में किसी न किसी रुप में राजनीतिक दलों की आलोचना की गयी है। रघुवरदयाल आयोग (1969) ने कहा है कि –'' राजनीतिक दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक या जातीय भावनाओं को नहीं उभारना चाहिए।'' दत्ता आयोग (1970) ने कहा– '' राजनीतिक दलों को किसी समुदाय की धार्मिक भावनाओं के नाम पर अपील करके वोट प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।' जमशेदपुर में 1979 में हुए दंगों की जांच के लिए गठित आयोग ने कहा था कि वे राजनीतिक दल सम्प्रदायों को सदैव ही 'वोट बैंक'' समझते हैं और तदनरुप ही अपने कार्यक्रम और कार्यवाही सम्बन्धी योजना बनाते हैं। वोट का अर्थ है सत्ता और राजनीतिज्ञों को अन्य किसी बात की तुलना में सत्ता अधिक प्यारी है।

23.3.3 सांस्कृतिक भिन्नता का दुरुपयोग

भारत सांस्कृतिक दृष्टि से बहुलवादी समाज है। रजनी कोठारी ने अपने लेख भारत में साम्प्रदायिकता का सांस्कृतिक संदर्भ में लिखा है कि भारत की अनिवार्य पहचान सांस्कृतिक है न कि राजनीतिक व आर्थिक। उदारीकरण व भूमंडलीकरण के दौर में विभिन्न सम्प्रदायों की सांस्कृतिक पहचान मिल रही है। इसलिए अपनी संस्कृति, रीतिरिवाज व परम्पराओं को बचाने के लिए वे आक्रामक रुप में पेश आते है। चूंकि विभिन्न धर्मावलंबियों के रीतिरिवाज व व्यवहारों में अंतर है, इसलिए अपनी पहचान बनाए रखने के लिए इस अंतर को उछाला जाता है। मंदिरों एवं मस्जिदों में लाउडस्पीकर लगाकर अजान व भजन गाए जा रहे हैं। मस्जिदों एवं मंदिरों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। मस्जिदों के सामने संगीत हिन्दुओं द्वारा पवित्र माने जानी वाली गौ का वध, मस्जिद के रास्ते से देवी देवताओं के जुलूस, मंदिर के रास्ते से ताजिया निकालना, हिन्दू धार्मिक समारोहों के अवसर पर मुसलमानों पर गुलाल अथवा रंग डालना साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ाते हैं। शिक्षण संस्थाओं में सूर्य नमस्कार या गीता पाठ को अनिवार्य करना भी अल्पसंख्यकों के मन में अविश्वास की भावना पैदा करता है जिसका लाभ मुस्लिम कट्टरपंथी ताकते उठाती हैं।

23.3.4 साम्प्रदायिकता के आर्थिक कारक

भारत में साम्प्रदायिकता के मूल में आर्थिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वाधीनता के बाद भारत ने आर्थिक विकास के लिए पूंजीवादी मार्ग अपनाया। इसके परिणाम स्वरुप एक राष्ट्र के भीतर दो राष्ट्रों का निर्माण हुआ। एक पूंजीपतियों एक सामंतों का और दूसरा गरीबों और मेहनतकशों का। भारतीय शासक वर्ग में राजशक्ति का प्रयोग ऐसे सामाजिक आर्थिक ढांचे के विकास में किया जिसमें कि सामाजिक आर्थिक द्वैतवाद की रचना की। इस आर्थिक विकास ने न केवल आर्थिक असमानता तथा दो राष्ट्रों को जन्म दिया बल्कि दोनों के बीच खांई बढ़ी। गरीबी, भुखमरी, जीवन की ह्दयहीन अमानवीय दशाओं एवं नौजवानों की बेरोजगारी ने एक ऐसे वातावरण की रचना की जिससे समाज का सामाजिक व

नैतिक पतन हो गया। नौजवानों के सामने कोई आदर्श और कोई जीवन मूल्य नहीं रहा जो उन्हें सही रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करता। इन सबने धार्मिकता, पुनरुत्थानवाद के सम्पोषण और प्रबलीकरण के लिए निरंतर सामाजिक व भौतिक आधार प्रदान किया।

विकास का पूंजीवादी मार्ग कैसे साम्प्रदायिक धार्मिक तत्ववाद को मजबूत करता है इसका उदाहरण पंजाब है। पूंजीवादी विकास के अभिन्न अंग के रुप में पंजाब में हरित क्रान्ति का अर्थ न केवल आर्थिक विकास है बल्कि इसने आर्थिक विषमता वर्गीय विभाजन व सामाजिक तनाव को जन्म दिया है। हरित क्रान्ति ने पंजाब को चिकेन व व्हिस्की लैन्ड के रुप में बदल दिया। इससे असाधारण भ्रष्टाचार व जीवन तथा संस्कृति में अश्लीलता बढ़ी। एक सशक्त लोकतांत्रिक व समाजवादी संस्कृति के अभाव में वे धार्मिक तनाव के बहकावे में आ गए।

स्वाधीनता के बाद जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उनके पीछे कहीं न कहीं आर्थिक कारण रहा है। विवादग्रस्त संपत्तियों को हथियाने के लिए निहित स्वार्थो ने अपने अर्थिक संघर्ष को साम्पद्रायिक रुप दिया है। अनेक धार्मिक स्थलों के पास विवादग्रस्त मूल्यवान नगरीय संपत्ति है जिसे पाने के लिए साम्प्रदायिकता का सहारा लिया जाता है। नगरों बढ़ती आबादी के कारण नगरीय जमीनों के मूल्य में बेतहाशा वृद्वि हो रही है। इन जमीनों को हथियाने के लिए धन्ना सेठ लम्पट तत्वों की मदद से साम्प्रदायिकता भड़काकर दंगा कराते हैं जिससे कि उन जमीनों को खाली कराया जा सके। 1986 में कर्नाटक में बंगलूरु से 40 कि0मी0 दूर राम नगरम् में थोड़ी सी जमीन के चारों ओर तार घेरकर कुछ लोगों ने उसे वक्फ की जमीन घोषित कर दी। दूसरे सम्प्रदाय के लोगों ने आपत्ति की कि यह सार्वजनिक जमीन है, इस पर किसी सम्प्रदाय का अधिकार नही होना चाहिए। मामले को सुलझाने के लिए राजस्व अधिकारियों ने तीन दिन का समय मांगा जिससे कि दस्तावेजों का परीक्षण कर मालिकाना फैसला किया जा सके। पर इस बीच भीषण साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। दिल्ली में भी 1986 में मंदिर की जमीन के विवाद को लेकर दंगा भड़का क्योंकि मुसलमान उसे अपनी संपत्ति बता रहे थे।

1989 में कोटा के दंगों में अधिकांश वे मुसलमान मारे गए जो एक समय गरीब थे पर बाद में खाड़ी के देशों द्वारा लाए गए धन से धनी हो गए थे। इसी तरह 1989 में मेरठ के दंगों में हिन्दू छापा मालिकों व मुस्लिम हैन्डलूम श्रमिकों का विवाद था। अक्टूबर 1990 में भागलपुर के दंगों में चम्पानगर व नाथ नगर क्षेत्र में एक भी मुस्लिम परिवार नहीं बचा जो कि रेशम के कपड़े के उत्पादन में प्रसिद्व था। 1990 के अलीगढ़ के दंगों में अलीगंढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के अस्पताल को इसलिए साम्प्रदायिक हमले का निशाना बनाया गया क्योंकि यह अस्पताल ऐसे नर्सिंग होमो को फलने फूलने से रोकता था जो कि भाजपा समर्थक हिन्दुओं के थे। इसी नगर के सराय हाकिम व तकिया सफाई कालोनी में दंगों की आड़ में हिन्दू दुकानदार उस विवादग्रस्त भूमि के टुकड़े को हड़पना चाहते थे जो कि वाणिज्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। इसी तरह अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जबकि भिन्न धर्म वाले प्रतिद्वन्दियों की दुकान नष्ट कराने, गरीबों की बस्तियां जलाकर भूमि पर कब्जा करने आदि के लिए साम्प्रदायिक दंगों का सहारा लिया गया।

साम्प्रदायिकता का निहित स्वार्थो से क्या सम्बन्ध है। इसका पता इस तथ्य से चलता है कि हिन्दू मुस्लिम सिक्ख सभी प्रकार की साम्प्रदायिक शक्तियां आपसी विवाद के बावजूद भी साम्राज्यवाद के समर्थन तथ समाजवाद के विरोध में एक हो जाती है। पूंजीवादी सामंती समाज में साम्प्रदायिकता आर्थिक, सामाजिक,

राजनीतिक वर्चस्व कायम करने के लिए धार्मिक कठमुल्लावाद, धार्मिक विलगांव का प्रचार कर सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों को रोकने का माध्यम बन गयी है।

23.3.5 धर्म और राजनीति में अन्तः क्रिया

धर्म और राजनीति के घालमेल ने भी भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में मदद की है। स्वाधीनता के बाद अनेक ऐसे राजनीतिक दलों का गठन हुआ है जो कि किसी पंथ और सम्प्रदाय विशेष पर आधारित है। मुस्लिम लीग, शिरोमण अकाली दल, रामराज्य परिषद, हिन्दू महासभा आदि दलों के निर्माण में पंथिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये साम्प्रदायिक दल पंथ को राजनीति में प्रधानता देते हैं, पंथ के आधार पर चुनाव में प्रत्याशियों को खड़ा करते हैं तथा सम्प्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। प्रो0 मारिस जोन्स ने लिखा है–'' यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिया जाय अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष पंथिक समुदाय के राजनीतिक दावों की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ ऐसे दल हैं जो स्पष्ट रुप से अपने को साम्प्रदायिक कहते हैं जैसे मुस्लिम लीग जो भारत में सिर्फ दक्षिण भारत में रह गयी है और जो कि मालावार में मोपाला समुदाय के बल पर केवल केरल में शक्तिशाली है, सिक्खों के अकाली पार्टी जो सिर्फ पंजाब में है, हिन्दू महासभा जो सिद्वान्त रुप में एक अखिल भारतीय पार्टी है किन्तु मुख्य रुप से मध्य प्रदेश व और उसके आसपास के इलाकों में शक्तिशाली है''।

धर्म और राजनीति की अन्तः क्रिया को समझने के लिए पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पंजाब की राजनीति सदा ही अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति शिरोमणि गुरद्वारा प्रबंधक समिति के निर्वाचनों के इर्द गिर्द घूमती है। शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रुप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करती हैं और अकाली दल पंजाब की राजनीति को स्वर्ण मंदिर के सामने अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्द सिंह ने राजनीतिक शक्ति के रुप में की थी। पंजाब के राजनीति में अकाल तख्त का स्वरुप एवं भूमिका एक समानान्तर सरकार की भांति है जिस पर सरकार के आदेश नहीं लागू होते। अनेक बार धार्मिक विवादों के साथ राजनीतिक विवादों के बारे में फैसला अकाल तख्त करता है।

23.4 साम्प्रदायिकता को दूर करने के उपाय

साम्प्रदायिकता देश की एकता, अखंडता, आर्थिक प्रगति, तथा शांति व्यवस्था के लिए गंभीर खतरा है। साम्प्रदायिक दंगों से जन और धन दोनों की हानि होती है। साम्प्रदायिक झगड़े से देश की एकता और राष्ट्रीय सुरक्षा को गंभीर खतरा पैदा होता है। इससे देश की आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में बाधा पड़ती है। अन्य राष्ट्रों के साथ भारत के संबधों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए जरुरी है कि साम्प्रदायिकता के खतरे को समाप्त किया जाय। इसके लिए निम्नलिखित उपाया अपनाए जा सकते हैं–

1. साम्प्रदायिकता के विरोध का वातावरण बनाया जाय तथा सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाय कि सब धर्मो के लोग मिल जुल कर रहे।
2. सरकार कोई भी ऐसा कार्य न करे जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिले। किसी सम्प्रदाय के तुष्टीकरण के लिए सरकार कोई कार्य न करे।

3. शिक्षा में नैतिक तथा आध्यत्मिक मूल्यों का समावेश किया जाय। शिक्षा पाठ्यक्रम ऐसे हो जिससे छात्र छात्राओं में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास हो तथा वे धार्मिक कट्टरता व अंधविश्वास से दूर रहे।

4. अल्पसंख्यकों के धार्मिक स्वतंत्रता तथा सांस्कृतिक एवं शिक्षा संबधी अधिकारों की रक्षा करते हुए ऐसे कानूनों का निर्माण हो जो समस्त सम्प्रदायों, जातियों पर लागू हो। कानून लागू होने में जाति, लिंग, धर्म, भाषा व सम्प्रदाय के आधार पर कोई भेदभाव न हो।

5. वर्गीय आधार पर किसानों मजदूरों तथा कर्मचारियों को संगठित किया जाय तथा आर्थिक आधारों पर होने वाले संघर्षो से उनमें सच्चे अर्थो में एकता की भावना पैदा होगी।

6. साम्प्रदायिकता के विरुद्व वैचारिक स्तर पर संघष करना होगा। साम्प्रदायिकता को शक्ति के बल पर अथवा प्रशासकीय कार्यवाही द्वारा नहीं समाप्त किया जा सकता। साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का दायित्व केवल राज्य का ही नही बल्कि बुद्विजीवियों, राजनीतिक दलों, स्वंयसेवी संगठनों ट्रेड यूनियनों, किसान सभाओं आदि का भी है। साम्प्रदायिकता मिटाने के लिए वैचारिक मंथन समाज के सभी वर्गो को करना होगा।

7. आम जनता की जीवन की दशाओं में सुधार करना होगा तथा गरीबी भुखमरी को समाप्त करना होगा जिससे कि साम्प्रदायिक ताकतें अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग न कर सके। जनता की सामाजिक आर्थिक समस्याओं के समाधान से ही धर्म निरपेक्ष वातावरण का सृजन होगा और वे साम्प्रदायिक तत्वों के जहीरले प्रचार में नहीं फंसेगे।

23.5 धर्म निरपेक्षता अर्थ और प्रकृति

आमतौर पर यह विश्वास किया जाता है कि साम्प्रदायिकता के खतरे का हल धर्म निरपेक्षता में है। परंतु धर्म निरपेक्षता का कोई स्थिर परिभाषा नहीं है। इस शब्द की अनेक परिभाषाएं हैं। भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की व्याख्या करने के पहले धर्म निरपेक्षता के अर्थ को समझना जरुरी है।

धर्म निरपेक्षता शब्द को 1851 में बिट्रेन के एक समाज सुधारक जार्ज हेलीओक होलियो द्वारा इस्तेमाल किया गया। हेलीओक के अनुसार ''धर्म निरपेक्षता वह है जो जीवन के तात्कालिक कर्त्तब्य के रुप में मनुष्य को शारीरिक नैतिक और बौद्विक प्रकृति को उच्चतम संभव बिन्दु तक विकसित करना चाहती थी– जो नास्तिकता, आस्तिकता या वाइवल से अलग प्राकृतिक नैतिकता की व्यवहारिक प्रर्याप्तता को स्थापित करती है– जो इंसानी बेहतरी को बढ़ावा देने के लिए अपने काम करने के तरीके के रुप में भौतिक साधना को चुनती है और उन सबके लिए जो जिन्दगी को तक्र के जरिए नियंत्रित करेगें और सेवा के जरिए इसे उदात्त बनाएंगे, इन सकारात्मक सहमतियों को साझे बंधन के रुप में प्रस्तावित करती है''।

हेलीओक का मत था कि सरकार को श्रमिक वर्गो तथा गरीबों के लाभ के लिए काम करना चाहिए जो कि उनकी मौजूदा जरुरतों पर आधारित हो न कि ऐसी जरुरतों पर जो शायद उनकी भविष्य की जिन्दगी या उनकी आत्माओं के लिए जरुरी हो। हेलीओक ने जिस अर्थ में धर्म निरपेक्षता का प्रयोग किया था वह धर्म के खिलाफ नहीं था। उसमें बस जिंदगी के बाद की अटकलों के बजाय

जिंदगी पर जोर दिया गया था। उसके अनुसार धर्म अनजान विश्व की व्याख्या करता है। जबकि धर्म निरपेक्षता का उससे कोई संबंध नहीं है। धर्म निरपेक्षता का संबंध केवल भौतिक जगत से है। समय बीतने के साथ धर्म निरपेक्षता में अन्य अनेक आयाम जुड़े। विभिन्न समाजों में, विभिन्न ऐतिहासिक काल खंड़ों में अलग अलग ढंग से इस शब्द का प्रयोग किया गया।

धर्म निरपेक्षता के राजनीतिक संदर्भ को चर्च और राज्य के ऐतिहासिक संघर्ष के संदर्भ में देखा जा सकता है। मध्यकाल में यूरोप में चर्च का व्यापक प्रभाव था। इस दौर में पोपशाही ने पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य का विचार किया अर्थात् चर्च और पोप ही पृथ्वी पर ईश्वर के सच्चे प्रतिनिधि है। इसलिए समस्त सत्ता चर्च के पास होनी चाहिए राजा के पास नहीं। यह पहले के उस विचार से भिन्न था जिसके अनुसार राजा पृथ्वी पर ईश्वर का एक मात्र प्रतिनिधि माना जाता था तथा उसका साम्राज्य ईश्वर का राज्य था। इसके परिणामस्वरुप लौकिक सत्ता व आध्यात्मिक सत्ता के बीच संघर्ष चला जिसकी समाप्ति धार्मिक क्षेत्र व राजनीतिक क्षोत्र के अलगाव से हुई।

सामाजिक संदर्भ में धर्म निरपेक्षता व्यक्ति के जीवन पर धर्म के प्रभाव के विद्रोह स्वरुप प्रकट हुई। प्रारंभिक दिनों में धर्म व्यक्ति के जीवन के हर क्षेत्र पर नियंत्रण रखता था। परंतु यूरोप में 16वीं शताब्दी में हुए पुनर्जागरण तथा वैज्ञानिक विकास ने तक्र की भावना को विकसित किया। सत्राहवीं शताब्दी में यूरोपीय विचारों में ताक्रिकता (प्रबोधन) को प्रधानता मिली। इसके परिणामस्वरुप व्यक्ति के जीवन पर धर्म का नियंत्रण कम हो गया। धर्म व्यक्ति के लिए निजी क्षेत्र का विषय बन गया और राज्य तथा धर्म एक दूसरे से अलग हो गए। इस प्रकार पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता राज्य और धर्मो को अलग करने वाली दीवार थी और जनता के भौतिक उन्नति का सरोकर उसका बुनियादी दृष्टिकोण था।

धर्म निरपेक्षता क्या है। आक्सफोर्ड शब्द कोष के अनुसार धर्म निरपेक्षता से तात्पर्य ऐसे सिद्वान्त से है जिसमें नैतिकता, ईश्वर की मान्यता अथवा भावी जीवन की कल्पना पर आधारित न होकर केवल मानव के लौकिक जीवन में उसके कल्याण पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता जीवन तथा किसी अन्य विषय से संबधित वह दृष्टिकोण है जो इस धारणा पर आधारित होता है कि सामाजिक नैतिकता के सिद्वान्तों के निरुपण में धर्म अथवा किसी प्रकार के साम्प्रदाय के विचारों को शामिल नहीं किया जाना चाहिए। अतः नैतिक मानदंडों अथवा आचरण का निर्धारण धर्म से संबंधित न होकर केवल वर्तमान लौकिक जीवन एवं सामाजिक कल्याण से संबंधित होना चाहिए। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता नए प्रकार का विचार है जिसका उद्देश्य धर्म के स्थान पर भौतिक माध्यम से मानव जीवन का विकास करना है।

23.6 धर्म निरपेक्षता का भारतीय स्वरुप

भारतीय समाज की अनूठी विशेषतएं हैं। यह बहुधर्मी बहु संस्कृति वाला समाज है। एक साथ रहने के लिए जरुरी है विभिन्न सम्प्रदायों में किसी न किसी प्रकार की आपसी समझधारी हो। चूंकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत मतान्तर रहे इसलिए राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म या पंथ को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। यही कारण है कि धर्म निरपेक्षता के मार्ग को भारत की एकता को

सुदृढ़ बनाने वाला है। डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की संकल्पना की निम्नलिखित शब्दों में एक तक्र पूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है –

''धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रुप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है।''

जैसा कि न्यायमूर्ति देसाई ने कहा था– ''एक पंथ निरपेक्ष राज्य व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रुप में व्यवहार करता है और उसके धर्म की ओर ध्यान नहीं देता। वह किसी धर्म विशेष से जुड़ा नहीं होता और न वह किसी धर्म को बढ़ावा देता है और न ही उसमें हस्तक्षेप का प्रयास करता है। अनिवार्य है कि एक धर्म निरपेक्ष राज्य का धार्मिक कार्यो से कोई संबंध नहीं सिवाय उस स्थिति के जब उनके प्रबंध में अपराध, धोखाधड़ी अंतर्ग्रस्त हो या वह राज्य को एकता तथा अखंडता के लिए खतरा न बन जाए''। न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर ने भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता की परिभाषा करते हुए इसका अर्थ यह बताया है कि सभी नागरिकों को नागरिक के रुप में समान अधिकार प्राप्त है तथा इस मामले में उनका धर्म या मजहब पूर्णतया अप्रासंगिक है। उन्होंने कहा कि राज्य किसी धर्म विशेष के प्रति आशाक्ति नहीं रखता, यह अधार्मिक या धर्म विरोधी नहीं होता, यह सभी धर्मो को समान स्वतंत्रता प्रदान करता है। यम.सी.सीतलवाड का भी विचार था कि धर्म निरपेक्ष राज्य के आधीन सभी नागरिकों के साथ एक सा व्यवहार होना चाहिए तथा उनके धर्म के कारण उनके साथ भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए।

धर्म निरपेक्षता के दो रुप हो सकते हैं। पहला राज्य धर्म विरोधी हो, उसकी धर्म विरोधी विचारधारा हो तथा वह उसी पर आचरण करे। दूसरा–राज्य धर्मो की ओर उदासीन हो, किसी धर्म को संरक्षण न दे, किसी धर्म से द्वेष न करे, नागरिकों को अपनी रुचि का धर्म मानने की स्वतंत्रता दे। भारत में दूसरे अर्थ में धर्म निरपेक्षता का अंगीकार किया गया है। डा0 भीमराव अम्बेडकर के अनुसार– धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं का आदर नहीं करेगें। इसका केवल अर्थ यही है राज्य लोगों पर किसी धर्म को नहीं थोपेगा। ''जवाहर लाल नेहरु ने भी कहा था – भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। इसका अर्थ धर्महीनता नहीं, इसका अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर है।''

संक्षेप में धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ यही है कि राज्य विभिन्न धर्मों में किसी एक के साथ पक्षपात न करें और न किसी धर्म की राजकीय धर्म घोषित किया जाय। धर्म निरपेक्ष राज्य का यह कार्य नहीं है कि राज्य धर्म का विरोध करता रहे या वह व्यक्तियों को नास्तिक होने के लिए प्रोत्साहित करे। भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में टी0के0 टोपे ने लिखा है – ''भारत के धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जाता। भारतीय संविधान में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की गयी है। देश के प्रमुख पदाधिकारियों को ईश्वर के नाम पर शपथ लेनी पड़ती है।''

पश्चिम के विपरीत भारत में धर्म निरपेक्षता का जन्म चर्च तथा राज्य के परस्पर संघर्ष के कारण नहीं हुआ। इसकी जड़े भारत के अपने इतिहास तथा संस्कृत में है। भारत में बहुलवाद का तकाजा था कि राज्य सभी सम्प्रदायों के प्रति न्यायोचित तथा निष्पक्ष व्यवहार करें। इसीलिए हमारी बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी, 'सेक्युलरवाद' का प्रयोग अक्सर केवल साम्प्रदायिकता के विलोम के रुप में किया

जाता है। इधर धर्म निरपेक्षता को सर्वधर्म समभाव का रुप देने की कोशिश की जा रही है। इसका अर्थ है राज्य द्वारा सभी धर्मो का समान सम्मान। चूंकि धर्म भारत के करोड़ो लोगों के जीवन की धुरी है इसलिए यह संभव नहीं कि धार्मिक मामलों में राज्य सम्पूर्ण तटस्थता का आचरण करे। हमारे संदर्भ में धर्म निरपेक्षता का अर्थ केवल यही है कि हमारा राज्य कोई धार्मिक या धर्मतंत्रवादी राज्य नहीं है। राज्य का इस रुप में कोई धर्म का मजहब नहीं है, राज्य के नजरों में सभी धर्म बराबर है और धर्म के आधार पर राज्य नागरिकों के बीच कोई विभेद नहीं करेगा।

23.7 भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी प्रावधान

भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता के दो आधार हैं। सर्वप्रथम संविधान की प्रस्तावना में केवल भारतीय गणतंत्र के आधारभूत सिद्वान्तों का जैसे न्याय, स्वतंत्रता समानता एवं मातृत्व का उल्लेख है वरन् स्पष्ट रुप से बताया गया है कि प्रत्येक नागरिक को अन्य स्वतंत्रताओं के साथ व्यक्तिगत रुप से मान्य सिद्वान्तों में विश्वास और उपासना की स्वतंत्रता प्राप्त है। संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा गया है कि विचार अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना की स्वतंत्रता सभी नागरिकों को प्राप्त होगी। 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'पंथनिरपेक्षता' (धर्म निरपेक्षता) शब्द जोड़ कर हमारे संविधान की धर्म निरपेक्ष धारणा को स्पष्टता प्रदान की गयी है। द्वितीय संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य का दूसरा आधार नागरिकों के धार्मिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार के रुप में है जिनका उल्लेख अनुच्छेद 25 से 28 तक में किया गया है।

भारत के संविधान में अनेंक ऐसे प्रावधान हैं जो भारतीय राज्य को धर्म निरपेक्ष चरित्र देते हैं।

1. राज्य कानून के आगे किसी व्यक्ति की बराबरी या कानूनों के जरिए समान संरक्षण से इंकार नहीं करेगा (अनुच्छेद 14)
2. राज्य धर्म के आधार पर किसी भी नागरिक के खिलाफ भेदभाव नहीं करेगा। (अनुच्छेद 15)
3. सार्वजनिक रोजगार के मामले में सभी नागरिकों को अवसर की समानता (अनुच्छेद 16)
4. सभी नागरिकों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का अधिकार है। उन्हें किसी भी धर्म को स्वीकार करने, उसे व्यवहार में लाने तथा उसका प्रचार करने का अधिकार है। (अनुच्छेद 25)
5. हरेक धार्मिक सम्प्रदाय को या इसके हिस्से को अपने धार्मिक मामलों को संचालित करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 26)
6. किसी भी व्यक्ति को किसी एक विशेष धर्म के प्रोत्साहन के लिए कोई टैक्स अदा करने की बाध्यता नहीं होगी। (अनुच्छेद 27)
7. राज्य द्वारा या राज्य की सहायता से संचालित किसी भी शैक्षणिक संस्थान में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। (अनुच्छेद 28)
8. नागरिकों के किसी हिस्से को अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि या संस्कृति को संरक्षित करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 29)

9. सभी अल्प संख्यकों को अपनी पसंद के शैक्षिक संस्थान स्थापित करने तथा चलाने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 30)

10. राज्य सभी नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता बनाने की कोशिश करेगा। (अनुच्छेद 44)

संविधान में धर्म निरपेक्षता की जो अवधारणा अपनायी गयी, वह पश्चिम में उसकी स्थापित अवधारणा से भिन्न है। संविधान में सभी नागरिकों को मौलिक अधिकारों के रुप में धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी दी गयी थी। पहली दृष्टि में यह किसी भी दूसरे संविधान जितना ही धर्म निरपेक्ष दिखता है। अमेरिका व आस्ट्रेलिया के संविधानों में राज्य और धर्म के अलगाव के कई प्रावधान है परन्तु भारतीय संविधान ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो राज्य को धर्म से अलग करने वाली दीवार खड़ी कर सके। इसमें राज्य और धर्म को अलग करने वाले फ्रांसीसी सिद्वान्त के लिए कोई जगह नहीं है। राज्य के मामले में धर्म के लिए कोई विशेष भूमिका नहीं है, लेकिन राज्य के काम काज और आधिकारिक आयोजनों में इसकी रस्मी भूमिका देने पर भी कोई पाबंदी नहीं है। इसी तरह धार्मिक मामलों में राज्य द्वारा भूमिका अदा किए जाने पर कोई रोक नहीं है। मौलिक अधिकारों में अंतःकरण की स्वतंत्रता, किसी भी धर्म को अपनाने, व्यवहार में लाने और प्रचारित करने की स्वतंत्रता है। परंतु ये अधिकार परम अधिकार नहीं है और इन्हें सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य और संविधान के दूसरे प्रावधानों के हित में सीमित किया जा सकता है। इसी के साथ सभी धार्मिक सम्प्रदाय और इसके हरेक सम्प्रदाय को अपने धार्मिक मामलों को चलाने सम्पत्ति जुटाने और संचालित करने और धार्मिक या परोपकार के उद्‌देश्य से संस्थाएं खोलने की स्वतंत्रता देता है परंतु संविधान इसे विशेष तौर पर स्पष्ट करता है कि धार्मिक स्वतंत्रता की ये गारंटियां राज्य को कानून के माध्यम से सामाजिक सुधार लागू करने से या किसी भी आर्थिक वित्तीय, राजनीतिक या दूसरी धर्म निरपेक्ष गतिविधि को, जिसको धार्मिक व्यवहार से जोड़ा जा सकता है, नियंत्रित या सीमित करने से नहीं रोकती। (अनुच्छेद 25 (2))

यद्यपि संविधान में किसी धर्म को प्राथमिकता या विशेषाधिकार नहीं दिया गया है, लेकिन इसमें बहुसंख्यक समुदाय से जुड़े कुछ विशेष धर्म आधारित प्रावधान है। उदाहरणार्थ संविधान हिन्दू धर्म से जुड़ी युगों पुरानी परम्परा अस्पृश्यता को समाप्त करता है और किसी भी रुप में इसे व्यवहार में लाने पर रोक लगाता है। (अनुच्छेद 17)। दूसरी तरफ संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में कानून के माध्यम से पवित्र गाय की रक्षा करने का निर्देश दिया गया है। (अनुच्छेद 48) इससे भी बढ़कर संविधान के अनुच्छेद 290ए के तहत दक्षिण भारतीय राज्यों—केरल व तमिलनाडु के कुछ निश्चित सम्प्रदायों के हिन्दू मंदिरों को एक संवैधानिक आदेश के तहत सार्वजनिक कोष से रकम मिलती है। संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो राज्य को धार्मिक मामलों में तटस्थ रहने का निर्देश देता हो। न ही यह कहीं पर धार्मिक सम्प्रदायों के साथ उसकी आस्था के मामलों में उनके साथ सहयोग करने के लिए राज्य को सहयोग करने को कहता है। धर्म निरपेक्षता के संदर्भ में सिर्फ इतना है कि राज्य को धार्मिक आधार पर जनता से भेदभाव करने को नहीं कहा गया है।

वस्तुतः भारत में राज्य धार्मिक मामलों में बिलकुल पृथक नहीं है। वह धार्मिक मामलों में रुचि लेता है। सरकार के प्रतिनिधि धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होते हैं। धार्मिक नेताओं के जन्म दिवस मनाए जाते हैं और उन अवसरों पर सरकारी छुट्‌टी होती है। रेडियो तथा दूरदर्शन पर विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम

प्रसारित किए जाते है। इसके बावजूद भी राज्य विभिन्न धर्मो में कोई विभेद न करके समानता के सिद्वान्त को अपनाता है। भारत इस अर्थो में धर्म निरपेक्ष है कि वह एक धर्म तंत्र की स्थापना नहीं करता। धर्म निरपेक्षता मूल रुप से दो बातों पर निर्भर करता है– धार्मिक स्वतंत्रता एवं कानून के समक्ष समानता। भारत का संविधान इन दोनों शर्तो को पूरा करता है। इन अर्थो में भारत निःसंदेह एक धर्म निरपेक्ष राज्य है।

23.8 धर्म निरपेक्षता समस्याएं और चुनौतियां

जिस तरह देश में धार्मिक तत्ववादी ताकतें सिर उठा रहीं हैं, उससे धर्म निरपेक्षता के प्रति गंभीर खतरा पैदा हो गया है। अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति से निश्चय ही बहुसंख्यकों में प्रतिक्रिया हुई है। विपिन चन्द्र जैसे बामपंथी चिंतक का भी मत है कि –''धर्म निरपेक्ष लोग अल्पसंख्यकों को साम्प्रदायिकता की उतनी तीखी आलोचना नहीं कर पाते जितनी तीखी आलोचना वे बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता की करते है।'' राजनीतिक दल अपने स्वार्थो के लिए अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक के बीच लकीरे खींचने में संकोच नहीं करते। अगर अनुभवों के आधार पर देखा जाय तो हम पाते हैं कि धर्म निरपेक्षता ने लोगों को एकजुट करने के बजाय उन्हें बांटने के उद्देश्य को पूरा किया है और उनकी धार्मिक पहचानों को कमजोर करने के बजाय मजबूत किया है। शाहबानों के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को निष्प्रभावी बनाने के लिए राजीव गांधी की सरकार ने मुस्लिम महिला अधिकार कानून बनाकर जहां मुस्लिम कट्टरपंथियों को प्रसन्न करने की कोशिश की वही विवादित राम जन्मभूमि का ताला खुलवाकर हिन्दुओं को खुश करने का प्रयास किया। इसी के बाद देश में धार्मिक कट्टरपंथी व साम्प्रदायिक ताकतों को खुलकर खेलने का मौका मिला और देश के अनेक भागों में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। आगे चलकर रामजन्म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद ने धर्म निरपेक्षता के लिए गंभी चुनौती खड़ी कर दी।

भारत में धर्म निरपेक्षता के जिस आदर्श को अपनाया गया है उसका लक्ष्य है विभिन्न धर्म के अनुयायियों में धार्मिक विभेद के बावजूद भी भाई चारे की भावना पैदा कर भावनात्मक एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करना है। परन्तु साम्प्रदायिकता ने इस मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा खड़ा कर दिया है जिसे हटाए बिना हम भावनात्मक एकीकरण की दिशा में नहीं बढ़ सकते। मूल बात यह है कि संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य तो स्थापित कर दिया पर एक धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना हम अभी नहीं कर पाए है। इसके लिए हमें अपने विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा। धर्म निरपेक्षता के ल क्ष्य को हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब प्रत्येक भारतीय इस तथ्य को हृदयंगम कर ले कि वह पहले व अंतिम रुप से भारतीय है।

23.9 सारांश

भारत में साम्प्रदायिकता के मूल में ब्रिटिश उपनिवेशवाद है जिसमें कि फूट डालो राज करो की नीति अपनायी और साम्प्रदायिक अधिनिर्णय कदम उठए जिससे कि अंततः देश का विभाजन हुआ। स्वाधीनता के बाद विकास के पूंजीवादी मार्ग, जिसने कि बेरोजगारी, विषमता, गरीबी व हताशा को जन्म दिया, ने ऐसे

वातावरण का सृजन किया जिससे कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। यद्यपि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है पर साम्प्रदायिकता ने धर्मनिरपेक्षता के समक्ष गंभीर चुनौती पेश कर दी है। सबकों समान रुप से विकास का अवसर देकर समस्त धर्मो को व्यवहार में समान मानकर धर्म निरपेक्षता के आदर्शो को मजबूत कर ही साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान संभव है।

23.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

विपिन चन्द्रा 1984 कम्यूनालिज्म इन मांडर्न इंडिया–विकास पब्लिकेशन नई दिल्ली

अयोध्या सिंह 1977 भारत का मुक्ति संग्राम–मैकमिलन नई दिल्ली

मुशीरुल हसन नेशनल एंड कम्यूनल पालीटिक्स इन इंडिया मनोहर नई दिल्ली

23.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

- साम्प्रदायिकता से आप क्या समझते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में साम्प्रदायिकता की परिभाषा दीजिए और बताइए सैद्वान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनैतिक विचारधारा के रुप में साम्प्रदायिकता का मूल सार है।

- साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी तत्व कौन से हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी ततवों – औपनिवेशिक विरासत, दलीय राजनीति व चुनावी राजनीति, सांस्कृतिक विभिन्न का दुरुपयोग, साम्प्रदायिकता के आर्थिक कारकों की विवेचना कीजिए।

- धर्म निरपेक्षता का क्या अर्थ है? इसका भारतीय स्वरुप क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में बताइए कि धर्म निरपेक्षता क्या है तथा भारत में धर्म निरपेक्षता का स्वरुप पश्चिम की अवधारणा से भिन्न है। पश्चिम में राज्य और धर्म बिलकुल अलग है पर भारत में राज्य की धारण सर्वधर्म समभाव की है।

- भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता स ंबंधी प्रावधानों का वर्णन कीजिए ?

- इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15,16, 25, 26, 27, 28,29,30 में वर्णित प्रावधानों को लिखना है तथा स्पष्ट करना है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है।

इकाई 24

भारतीय राजनीति में जाति

इकाई की रुप रेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 जाति की परिभाषा व विशेषताएं।

24.3 जाति प्रथा में परिवर्तन।

24.4 राजनीति में जातिः ब्रिटश राज्य में राजनीति व जाति की अंतःक्रिया।

24.5 जाति से राजनीति का सम्पक्र सूत्र।

24.6 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के आयाम।

24.7 जाति का राजनीतिकरण।

24.8 राज्यों की राजनीति व जाति

24.9 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं।

24.10 जाति और इसका वर्ग से सम्बन्ध।

24.11 राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन।

24.12 सारांश

24.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें।

24.14 बोधगम्य प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

यह यूनिट भारतीय राजनीति में जाति के विभिन्न आयामों पर विचार करती है। इस यूनिट के अध्ययन से यह जानना संभव है।

- जाति की परिभाषा तथा जातिप्रथा की विशेषताएं।
- जाति के परम्परागत अर्थ तथा इसके राजनीतिक उपयोग के अंतर को समझना।
- इस बात को समझना कि हाल के वर्षो में भारतीय राजनीति में जाति क्यों इतनी महत्वपूर्ण हो गयी है।
- राजनीति में जाति की भूमिका को कम कैसे किया जा स कता है ?

24.1 प्रस्तावना

भारत में जाति प्रथा की ऐतिहासिक जड़े वैदिक परम्पराओं में खोजी जा सकती है। श्रम विभाजन की समस्या के कारण प्राचीन भारतीय समाज का स्तर विन्यास हुआ जिसका बौद्विक प्रकटीकरण तथा सामाजिक वैधता वर्ण व्यवस्था में मिली। समाज में चार वर्ण थे। ब्राहमण धार्मिक और वैदिक कार्यो का संपादन करते थे। क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सम्भालते थे तथा शूद का काम उक्त तीनों वर्णो की सेवा करना था। प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था व्यक्ति की योग्यता और व्यवसाय पर निर्भर थी और एक वर्ण से दूसरे वर्ण में अन्तःक्रिया संभव थी परन्तु आगे चलकर वर्ण व्यवस्था ने जाति व्यवस्था का रुप ले लिया। धीरे–धीरे जाति प्रथा में कठोरता आती गयी और वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तःक्रिया असंभव हो गयी। सिद्वान्त में तो केवल चार वर्ण थे पर व्यवहारिक रुप से स बसे उच्च जाति ब्राहमण तथा सबसे निम्न कही जाने वाली जाति अछूत (जैसे कि महात्मा गांधी ने 'हरिजन'नाम दिया) के बीच उपजातियां या मध्य जातियां थी। इन मध्य जातियों के कुछ उदाहरण है– बिहार में भूमिहार, कर्नाटक में लिंगायत व ओकलिग्गा, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी व कम्मा, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश में जाट।

24.2 जाति की परिभाषा व विशेषताएं–

जाति शब्द अंग्रेजों के कास्ट (Cast) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। कास्ट शब्द की उत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के ब्ंजम शब्द से हुई जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लगाया जाता है। जाति की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित है। कूले (Cooley) के शब्दों में जब एक वर्ग पूर्णतया अनुवंशिकता पर आधारित होता है तब हमें जाति कहते हैं'' जे.एच. हट्टन (J.H. Hutton) के अनुसार जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्मकेन्द्रित एवं एक दूसरे से पूर्णतया पृथक इकाइयों में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊंच नीच के आधार पर सांस्कारिक रुप से निर्धारित होते हैं''। केतकर (Ketkar) के शब्दों में ''जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएं हैं– एक सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया हो और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होते है। दूसरा कि सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं''।

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसको सदस्यता जन्म पर आधारित है और जो अपने सदस्यों पर खानपान, विवाह–पेशा और सामाजिक सहवास संबंधी अनेक प्रतिबंध लागू करती है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो0 जी.यस. धुरिए ने जाति व्यवस्था की निम्नलिखित छः विशेषताएं बतायी है–

1. भारत में जाति ऐसे समुदाय है जिनका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
2. भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पद सोपान में ब्राहमण सबसे ऊपर माना जाता है।
3. जातियों के आधार पर खानपान और सामाजिक आदान प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं।

4. गांवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथकता की भावना बनी रहती है।

5. कुछ जातियां विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती है।

6. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान प्रदान होता है और जातियां कई उपजातियों में विभक्त हो जाती है। उप जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएं हैं।

चूंकि किसी जाति समूह का मुख्य आधार उस जाति में जन्म लेना होता है। अतः जाति विशेष के लोग अपना व्यवसाय योग्यता व पसंदगी के आधार पर नहीं बल्कि जाति के आधार पर करते हैं। अधिकांश जातियों के पेशे निश्चित होते हैं। एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते थे और प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खानपान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध होते थे। जातियों के धार्मिक कर्मकांड में भिन्नता थी। परन्तु निम्न जाति का यदि कोई व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुधार लेता था तो वह ऊंची जातियों के कर्मकांड को अपनाने लगता था। इस प्रक्रिया को प्रसिद्ध समाज शास्त्री यस0यन0 श्री निवासन ने इसे 'संस्कृतीकरण' की संज्ञा दी है।

भारत में जातियों के ठोंस आकड़े उपलब्ध नहीं है। भारतीय जनगणना पद्धति में जाति के आधार पर आंकड़े नही एकत्रित किये जाते। आधिकारिक रुप से केवल अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति की गणना की जाती है। 1931 की जनगणना अन्तिम थी जिसमें जाति के आधार पर आकड़े एकत्रित किये गये थे। परन्तु जनगणना के अलावा अन्य अनेक स्त्रोत भी हैं, जिसमें जातियों की संख्या की जानकारी होती है, उदाहरणार्थ– पिछड़ावर्ग आयोगों ने किसी राज्य विशेष सम्पूर्ण देश में सर्वण जातियों तथा पिछडी जातियों की संख्या का आकलन किया है, जातीय ढांचा और इसका संचालन देश के समस्त क्षेत्रों में एक समान नही है। उदाहरणार्थ जातीय पद सोपान उत्तर प्रदेश तथा बिहार में अन्य राज्यों की अपेक्षा कठोर है परंतु जातीय नियम उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक कठोरता से लागू किये जाते हैं। जातियों का संकेन्द्रण भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग है। उदाहरणार्थ बाह्मणों का संकेन्द्रण उत्तरी भारत में अधिक है तो जाट ''उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान में केन्द्रित है। नगरों मे सवर्णो की आबादी अधिक है, ग्रामीण क्षेत्रों में पिछडी जातियों की चूंकि स्वाधीनता के पूर्व व बाद में विभिन्न क्षेत्रों का असमान आर्थिक विकास हुआ है, इसलिए विभिन्न सामाजिक समूहों को असमान आर्थिक अवसर मिले हैं। इसलिए यद्यपि जाति प्रथा स्तरीकरण के रुप में समाज में कायम है परन्तु विभिन्न क्षेत्रों तथा समयों में इसके व्यवहारिक रुप में भिन्नता है।

24.3 जाति प्रथा में परिवर्तन

ब्रिटिश शासन स्थापित होने के बाद जाति प्रथा में परिवर्तन शुरु हुआ है। नई शक्तियों के आने से परम्परागत सामाजिक और व्यवस्था में बदलाव हुआ गांवो की आत्मनिर्भरता व स्वंत्रता समाप्त हो गयी पाश्चात्य शिक्षा, पूंजीवादी, अर्थव्यवथा नयी न्यायिक पद्धति, पश्चिमी संसदीय संस्थाए वे महात्वपूर्ण कारक थे। जिन्होने जातीय एंव वर्गो के लिए शिक्षा के दरवाजे खोलकर ब्राह्मणें के बौद्धिक एकाधिकार को समाप्त करने की शुरुआत कर दी । इसमे जाति बंधनो को तोडकर नये शिक्षित वर्ग का उदय हुआ। इसमें से अधिकांश नये उदारवादी सुधारो

के समर्थक बने। नयी न्यायिक पद्धति विभिन्न जाति के लोंगो को बराबर समझती थी। औद्योगिककरण के परिणाम स्वरुप गामीण क्षेत्रो मे हस्तशिल्पी बडी संख्या मे बेरोजगार हो गये और वे नए औद्योगिक केन्द्रो की ओर पलयन कर गये किसान और खेत मे मजदूर भी जीविका के लिए कारखानो मे भर्ती हुए इसके परिणाम स्वरुप परम्परागत रुप मे जाति प्रथा को बनाये रखना संभव नही हो रहा है। नये बदले हुए आर्थिक राजनीतिक परिवेश में यद्यपि जातियां पहले की तरह बनी रही पर इनकी भूमिका नये सिरे से परिभाषित हो गयी ।

24.4 राजनीति मे जाति ब्रिटिश काल मे राजनीति और जाति की अन्तः क्रिया

अंग्रेजी शासन का उद्देश्य भारतीयों को समुदाय व जाति के संदर्भ मे विभाजित करने का था। इसलिए संप्रदाय व जाति का आधार उनके द्वारा संरक्षण देने तथा राजनीतिक पक्षपात करने का माध्यम बनी। विभिन्न जातियों के पढे लिखे लोगों ने ब्रिटिश सरकार से रियायते हासिल करने के लिए जातीय संगठन बनाएं। इस पृष्ठभूमि में हम ब्रिटिश शासनकाल में मध्यम तथा निम्न जातियों का भारतीय राजनीति में उदय देखते हैं। प्रभावशाली गैर ब्राह्मण जातियों जैसे आन्ध्रप्रेदश के कम्मा, केरल के नायर तमिलनाड़ के वेल्लनास ने जातीय आधार पर संगठन बनाए। बाद मे ये जातीय संगठन 1916 में लिवरल फेडरेशन के बैनर तले आ गए। इसी से 1922 में जस्टिस पार्टी का उदय हुआ। जस्टिस पार्टी ने दक्षिणी भारत में राजकीय सेवाओं मे ंनियुक्ति प्रणाली में परिवर्तन की मांग की जिससे कि उनकी जनसंख्या के अनुपात में उन्हें राजकीय सेवाओं में स्थान मिल सके। ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिष्ठा रखने वाली जस्टिस पार्टी 1937 के चुनाओं में बड़ी पराजय के बाद समाप्त हो गयी। इस दौर में जिन नेताओं ने जाति विरोधी आन्दोलनों का नेतृत्व किया उनमें मद्रास में रामस्वामी नायकर तथा बम्बई में डॉ0 भीमराव अम्बेडकर प्रमुख हैं।

राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन विशेषकर नगरीय इलाकों में जाति के आधार पर विकसित हुआ। शिक्षा व प्रशासन के क्षेत्र की तरह राजनीति में भी उच्च जातियों का प्रमुख बना रहा। जाति प्रथा के विरुद्ध जिन लेखकों ने प्रभावशाली आन्दोलन चलाया उनमें महात्मा गांधी व डॉ0 अम्बेडकर के प्रमुख नाम हैं। डॉ0 अम्बेडकर जो कि बाम्बे में दलितों के नेता के रुप में उभरे, थे शीघ्र ही वे राष्ट्रीय स्तर पर उनके नेता बन गए। महात्मा गांधी ने भी वर्तमान सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी बदलाव के बिना ही दलितों को समान अधिकार दिलाने तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध लगातार संघर्ष किया। डॉ0 अम्बेडकर जहां हिन्दू धर्म के दायरे के बाहर जाकर दलितों को सामाजिक समानता दिलाना चाहते थे वही पर महात्मागांधी हिन्दू धर्म के दायरे में रहकर ही अस्पृश्यता का कलंक धोना चाहते थे । इसलिए अम्बेडकर ने जहां हिन्दू धर्म से धर्मान्तरण कर बौद्ध धर्मग्रहण कर लिया महात्मागांधी सनातन धर्मी ही बने रहे। अम्बेडकर के प्रयासों से पूना पैक्ट के बाद केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधानसभाओं में दलितों के लिए सीटें आरक्षित की गयी जिससे शासन एवं प्रशासन में उनकी हिस्सेदारी बढ़ी । इस प्रकार अम्बेडकर द्वारा जगायी गयी चेतना से राजनीति दलित शक्ति का उदय हुआ। जिसका प्रभावी रुप हम आज भारतीय राजनीति में देख सकते हैं।

24.5 जाति से राजनीति का सम्पक्र सूत्र–

जय प्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है। ''प्रो0 वी0के0यन0 मेनन ने भी निष्कर्ष निकाला है कि ''स्वतंत्रता के वाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव पहले की अपेक्षा बढा हैं''। ''मारिस जोन्स का भी कहना है कि ''जाति के लिए राजनीति का महत्व और राजनीति के लिए जाति का महत्व पहले की तुलना में बढ़ गया है''।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए। इसके परिणाम स्वरुप जाति संस्थाएं यकायक महत्वपूर्ण बन गयी क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतंत्र में सत्ता प्राप्त करने हेतु इन मतो का मूल्य था। जिन्हें सत्ता की आशंका थी, उन्हें सामान्य जनता के पास पहुंचने के लिए संपक्र की आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरुरी था कि उनसे उस भाषा में बात की जाय जो उनकी समझ में आ सके। जाति व्यवस्था इस बात को प्रकट करती थी। जाति की पतवार पकड़कर उम्मीदवारों को अपनी जाति के मतदाताओं तक पहुंचना आसान था। इस पृष्ठ भूमि में जाति की भूमिका राजनीति में अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गयी। आरंभ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियां ही राजनीति से प्रभावित रही और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे। समय के साथ साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियां आगे आने लगी। और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढाने में प्रयत्नशील रहने लगी। प्रो0 रुडोल्फ के शब्दों में ''भारत के राजनीतिक लोकतंत्र के संदर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।''

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के साथ ही स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जातियों के स्थान आरक्षित होने से जमीनी स्तर पर उनकी राजनीति में रुचि बढी और हासीये पर पड़ी जातियां भी राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय हुई। इस प्रक्रिया ने जातियों को और अधिक संगठित होने तथा राजनीति में हिस्सेदारी करने की मांग की। इन जातियों के नेताओं ने भी यह सिखाया कि राजनीतिक सत्ता पर पकड बनाने से ही उनकी प्रगति के रास्ते खुलेगे। डॉ0 अम्बेडकर ने शासन सत्ता को 'मास्टर चाभी' कहा था जिससे सारे ताले खुलते थे। इसी मास्टर चाभी' का मर्म ''दलितों को समझाकर बहुजन समाज के नेता काशीराम ने उन्हें उत्तर प्रदेश की राजनीति का प्रभावी तत्व वना दिया।

24.6 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के आयाम

भारतीय राजनीति में हम जाति की भूमिका को अनेक कारकों की सहायता से देख सकते हैं। भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के निम्नलिखित आयाम है।

1. राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर किया जाता हैं प्रत्याशी चुनते समय प्रत्येक दल इस वा त का अनुमान लगा लेते हैं कि किसी विशेष निर्वाचन क्षेत्र में किन किन जातियों के लोग रहते हैं। उनके पारस्परिक समीकरण क्या हैं? भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल उम्मीदवारों के चयन मे जातिगत समीकरणों को ध्यान में रखता है।

2. जातिगत समीकरण मतदान व्यवहार को स्पष्ट रुप से प्रभावित करता है। चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रुप में अपनाया जाता है।

प्रत्याशी में अपनी जाति के मतदाताओं को विशेष तौर पर अपने पक्ष में लाने का प्रयास करते हैं जिससे कि अपनी जाति के मतदाताओं पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। ब्राह्मणों का वोट आमतौर पर कांग्रेस व भाजपा को मिलता रहा हैं। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव व बिहार में लालू प्रसाद यादव के दलों को यादवों सशक्त समर्थन रहा हैं कुछ सीमा तक उन्हें पिछड़ी जातियों के वोट भी मिलते रहे हैं बसपा की सफलता के पीछे दलित वोटों का मजबूत समर्थन रहा है।

3. जाति का प्रभाव इतना है कि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल से लेकर राज्यों के मंत्रिमण्डलों में प्रत्येक प्रमुख जातियों को प्रतिनिधित्व देना अनिवार्य सा हो गया है। ब्राह्मण, क्षत्रियों, सिक्खों, मुसलमानों, दलितों, पिछड़ी जातियों सब को किसी न किसी रुप में मत्रिमडल में स्थान मिलता है।

4. जातियां जातिगत दबाव समूह के रुप में काम करती हैं। प्रो0 जे0सी0 जौहरी के अनुसार ''जातिगत दबाव समूह अपनी निहित स्वार्थो एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति नीतिगणों को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते है उससे तो उनकी तुलना यूरोप व अमेरिका में पाये जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जाती है''। तमिलनाडु में नाडार जातिसंघ गुजरात में क्षत्रिय महासभा, बिहार में यादव सभा, उत्तर प्रदेश में जाट महासभा, राजस्थान में गूजर संघ आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेते हैं तथा अपने–अपने संगठन के बल पर राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं। अब तो विभिन्न जातियों के संघ समर्थन देने के बदले अपने जाति के उम्मीदवारों के लिए टिकट मांगते हैं।

5. भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ संविधान में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गये हैं। जिसके कारण ये जातियां संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती है कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षो के लिए बढा दिया जाये। अनेक जातियां ओ0बी0सी0 या एस0सी0एस0टी0 में शामिल होने के लिए आन्दोलन करती है जिससे कि आरक्षण का लाभ उन्हें भी मिल सके।

6. केन्द्र व राज्य सरकारों की सेवाओं में अनुसूचित जातियों जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गो के लिए आरक्षण की व्यवस्था है। प्रशासनिक अधिकारियों के बारे में आम धारणा है कि वे उनके निर्देशों में भी जातिवाद का असर देखा जा सकता है। अधिकारियों की प्रोन्नति तथा नियुक्ति में भी इस बात का प्रभाव पड़ता है कि मुख्यमंत्री या मंत्री उसकी जाति का है या नही। संविधान के अन्तर्गत जातिगत आधार पर आरक्षण व संरक्षणों की जो व्यवस्था है उसने जाति को प्रभावशाली बनाया है तथा राजनीति पर जाति की पकड़ गहरी हो गयी है।

24.7 जाति का राजनीतिकरण

प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पालिटिक्स' में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनका मत है कि जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं वे न तो राजनीति की प्रकृति को ठीक समझ पाए हैं और न जाति के स्वरुप को। भारत की जनता जातियों के आधार पर संगठित है। अतः न चाहते हुए भी राजनीति को जाति

संस्था का उपयोग करना ही पडेगा। अतः राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था में भाग लेने का मौका मिलता है। राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठन का उपयोग करते हैं और जातियों के रुप में उनको बना बनाया संगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है।

प्रो0 रजनी कोठानी ने जाति के राजनीतिक दशा की चर्चा करते हुए कहा है कि इससे पुराना समाज नयी राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है। इस प्रक्रिया को उन्होंने तीन चरणों में बांटा है :–

1. प्रथम चरण में प्रतिष्ठित व प्रभावशाली जातियों तक राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा सीमित रही। शिक्षा का लाभ प्रारम्भ में कुछ ऐसी ही जातियां उठा सकी। जिसके परिणाम स्वरुप समाज में पद प्रतिष्ठा केवल इन्ही जातियों या उपजातियों को प्राप्त हो सकी। इन जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे दो ऊंची जातियों में प्रतिस्पर्द्धा बढने लगी। महाराष्ट्र और मद्रास में ब्राह्म्ण गैर ब्राह्म्ण, राजस्थान में राजपूत–जाट, गुजरात में वनिया–ब्राह्मण, पाटीदार, आन्ध्रप्रदेश में कम्मा–रेड्डी, और केरल में इजवा – नायर द्वन्द इसके उदाहरण हैं।

2. इस चरण में भिन्न भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्द्धा के साथ–साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्द्धा गुट वन जाते हैं। प्रतिद्वन्दी नेताओं के पीछे गुट वन जाते हैं अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों को भी सहायता ली जाती है तो अव तक दायरे के बाहर थी। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए निम्न जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीति पद व लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्द्धी नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। इस चरण में पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जाति के नेताओं के वजाय व्यवसायिक और कृषक जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ी ये नेता सौदा पटाने में कुशल थे, ज्यादा व्यवहारिक थे और जाति के लोगों को नेतृत्व कर सकते थे। दूसरे चरण में जातिगत सीमाए टूटी तथा भिन्न भिन्न जातियों के व्यक्ति भी मिलकर संगठित होने लगे।

3. तीसरे चरण में शिक्षा, एवं शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे और लोग काम धन्धे के लिए नगरों मे वसने लगे। जाति ढीली पडने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक ही सीमित नही रहा। जाति का स्थान वर्ग लेने लगते हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन का एक मात्र आधार नही रही यद्यपि राजनीति अब इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

राजनीति में जातियों की रुचि तथ उनकी राजनीतिक मामलों में चेतना के विषय में 1970 के दशक में अनिल भट्ट द्वारा किए गए अध्ययन को एक वस्तुनिष्ठ आधार माना जा सकता है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि (1) उच्च जातियों में निम्न स्थिति की जातियों की अपेक्षा राजनीतिक रुचि का स्तर ऊँचा होता है। (2) राष्ट्र की प्रमुख राजनैतिक समाचायों तथा उच्च जाति के चेतना का स्तर उच्च होता है। (3) जाति के आधार पर कुछ जातियों के लोग किसी विशेष राजनीतिक दल को अधिक समर्थन देते है। (4) ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ स्थानों पर

उच्च जातियों प्रबल स्थिति में है तो अनेक स्थानों पर मध्यम तथा निम्न जातियों प्रबल स्थिति में है। केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय जैसी उच्च जाति का होना ही गांव के मामलों को प्रभावित करने वाला आवश्यक आधार नही है।

24.8 राज्यों की राजनीति और जाति

अखिल भारतीय स्तर की अपेक्षा राज्यों की राजनीति की राजनीति में जातिवाद का प्रभाव अधिक रहा है। किसी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नही है। परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, राजस्थान, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित के नही कर सकते। बिहार की राजनीति स्वाधीनता के वाद दो दशको तक ब्राह्मण, राजपूत व कायस्थो के इर्द गिर्द घूमती रही परन्तु आगे चलकर यादव, कोईरी व कुर्मी राजनीतिक ताकत के रुप में उभरे। इसी तरह उत्तर प्रदेश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, यादव, मौर्य कुशवाहा, कुर्मी, लोधी राजपूत जातियों के इर्द गिर्द राजनीति घूमती है। आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी व कम्मा के बीच सत्ता का संघर्ष रहा है। गुजरात की राजनीति में दो जातियां प्रभावशाली है – पाटीदार और क्षत्रिय। राजस्थान की राजनीति में जाट व राजपूतों में राजनीति प्रतिस्पर्द्धा रही है। केरल में इजवाहा व नायर जातियां राजनीति की दृष्टि से प्रभावशाली रही है।

किसी जाति विशेष का समर्थन पाकर अनेक नेता सत्ता के शिखर पर पहुंचे। उत्तर प्रदेश में जाटो तथा पिछड़ी जातियों के गठबन्धन ने चरण सिंह को मुख्यमंत्री की कुर्सी पर पहुंचा दिया। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव व बिहार में लालू प्रसाद यादव को अपनी जाति का ठोस समर्थन मिला। आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्र बाबू नायडू की सफलता के पीछे कम्मा जाति के लोगों की एकजुटता है। बिहार में नितीश कुमार को कुर्मी कोयरी का ठोस समर्थन मिला। दलितों की एकजुटता ने मायावती को उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बना दिया। इस आधार पर कुछ राजनीतिक विश्लेषक राज्यों की राजनीति को जातियों की राजनीति की संज्ञा देते हैं।

24.9 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं

जाति के राजनीति दशा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

(1) संविधान लागू होने के बाद प्रारम्भिक दशकों में राजनीति पर ऊँची जातियों का वर्चस्व था। इन जातियों में ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत, वेल्लास आदि शामिल थे। यद्यपि ये आबादी के 15 प्रतिशत थे पर सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वकारी थे। अतः केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों के मंत्रिमण्डलों में इन्हीं की प्रधानता थी। वाद के वर्षो में हरितक्रान्ति का लाभ उठाते हुए पिछड़ी जातियां भी आर्थिक दृष्टि से ताकतवर हूं। आरक्षण व्यवस्था का भी इन्हें लाभ मिला। पिछड़ी जातियों में गुजरात में पाटीदार, महाराष्ट्र में मराठे, आन्ध्र प्रदेश में कम्मा तथा रेड्डी उत्तर प्रदेश में यादव तथा कुर्मी, बिहार में यादव कुर्मी तथा कुशवाहा प्रमुख थे। आर्थिक दृष्टि से प्रभावशाली होने तथा शिक्षित होने पर पिछड़ी जातियां भी संगठित हुई और पंचायती राज संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व कायम किया। आगे चलकर संसद तथा विधान सभाओं में भी इनका प्रभुत्व बढ़ा तथा पिछड़ी जाति के लोगों ने अनेक प्रान्तो में मुख्यमंत्री का पद प्राप्त किया। परिणाम स्वरुप

सत्ता के लिए ऊँची जातियों तथा पिछड़ी जातियों में प्रतिद्वन्दिता बढ़ी जो आज भी कायम है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति की चाहे वह कितना भी शिक्षित तथा उच्च पदस्थ हो जाति के प्रति निष्ठा बनी रहती है क्योंकि उसके सामाजिक सम्बन्धों में जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जाति के प्रति निष्ठा आगे चलकर बडी निष्ठाओ अर्थात लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो जाती है। इस प्रकार जातियां जोड़ने वाली कड़िया बन जाती है। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्दिता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सके।

(3) जाति के राजनीतिकरण दशा से लोगों के दृष्टिकोणो में परिवर्तन हो जाता है। लोग यह भी समझने लगते हैं कि मात्र किसी एक जाति के बल पर चुनाव नही जीता जा सकता। यदि कोई नेता केवल अपनी जाति का ही पक्ष लेता है तो दूसरी जातियां उसके खिलाफ हो जाती है। परिणाम स्वरुप राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है। जातियों के राजनीति में भाग लेने के कारण उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है तथा राष्ट्रीय भावना मजबूत हुई है।

(4) जाति के राजनीतिकरण से हाशिये पर रही उन जातियों को भी शासन सत्ता में भाग लेने का अवसर मिल जाता है जो अब तक इससे वंचित थे। अनुसूचित जातियों जनजातियों को तो संविधान में व्यवस्था होने के कारण संसद एवं विधान सभाओं में प्रवेश का अवसर मिल गया। परन्तु देश की कुल जनसंख्या की 30 प्रतिशत अति पिछड़ी जातियों की शासन सत्ता में कोई हिस्सेदारी नही थी। परन्तु जाति के राजनीतिकरण ने उनको भी सत्ता में भागीदार बनाया।

(5) राजनीति में प्रभावी जाति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। प्रभावी जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होती है बल्कि संख्या में भी उस गांव या क्षेत्र में अधिक होती है। प्रभावी जाति अपनी संख्या बल के आधार पर गांव वे क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष में किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य की राजनीति में वह जाति एक प्रभावक तत्व बन जाती है। चुनाव के समय पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लगाए गए इस नारे 'जाट की बेटी जाट को जाट का वोट जाट को' से प्रभावी जाति की भूमिका को समझ सकते हैं। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय अहीर हो या कुर्मी कोई भी जाति हो अगर किसी गांव या क्षेत्र में वह प्रभावी जाति है तो राजनीति में भी वह प्रभावी रहती है।

24.10 जाति और इसका वर्ग से सम्बन्ध

परम्परागत अर्थ में जाति प्रथा न केवल वंशानुगत सामाजिक श्रेणी है बल्कि यह समाज का वर्गीय विभाजन है। आमतौर पर ब्राह्मण व क्षत्रिय शासक वर्ग रहे है जबकि वैश्य व शूद्र श्रम शक्ति का गठन करते रहे है। शूद्रो में अनेक जातियां व उपजातियां थी जो कि या तो सीमान्त कृषक थे अथवा ऐसे व्यवसायिक कार्यो में लगे थे जिन्हें कि निम्न माना जाता था। उच्च वर्ग जिसको कि जमींदार, व्यापारी

व प्रशासक शामिल थे, शोषक वर्ग था। इसमें अधिकांशतः उच्च जातियां शामिल थी। शोषित वर्ग में किसान व दास्तकार शामिल थे जबकि मुख्यतः मध्यम व निम्न जातियों में से आते थे।

किसान मुख्यतः भूमि जोतने वाले जाति में थे जो कि 1950 में जमींदारी उन्मूलन के वाद धनी किसान बन गए थे। इसमें कुर्मी, जाट, रेड्डी, वांक्लियग्गा, कम्मा, वन्नियार जैसी जातियां थी। इन्हीं के समकक्ष तथा श्रेणी में इनसे नीचे की जातियां थी जिनका कि परम्परागत कार्य गाय, भेड़ पालना तथा सब्जी उगाना था (माली, यादव, मौर्य)। जहां पर इनकी संख्या अधिक थी तथा आर्थिक दृष्टि से ताकतवर थे, वहां पर ये प्रभावी जातियां थी। सबसे नीचे अछूत थे जिसमें दुघास, चमार, पासी, महार, माला आदि।

स्वाधीनता के जमींदारी उन्मूलन तथा हरित क्रान्ति ने ग्रामीण क्षेत्र में धनी किसानों के एक नए वर्ग को जन्म दिया। इन धनी किसानों में ब्राह्मणों, क्षेत्रियों के अलावां पिछड़ी कही जाने वाली कुरमी, यादव, जाट, रेड्डी कम्मा, वोक्लिग्ग जैसी जातियां भी शामिल थी। इन धनी किसानों के हित ग्रामीण क्षेत्र में खेत मजदूरों से टकराते थे। खेत मजदूरों में अधिकांश दलित तथा अति पिछड़ी जातियों के लोग थे। इन धनी किसानों का टकराव खेत मजदूरों के साथ हुआ जो कि अपने लिए अधिक मजदूरी की मांग करते थे। परिणामतः देश के और स्थानों पर दलितों के विरुद्ध धनी किसानों ने हिंसक हमले किए और दलितों की सामूहिक हत्यायों तथा उनकी बस्ती जला देने की घटनाएं हुई। ये धनी किसान विभिन्न उच्च तथा मध्यम जातियों के थे। उदाहरणार्थ पिपरा (बिहार) में दलितों के विरुद्ध अत्याचार ऊंची जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय) के लोगों ने किया तो बेलछी (बिहार) में दलितों के विरुद्ध पिछड़ी जातियों ने अत्याचार किया तथा हिंसा का सहारा किया।

ऊपरी तौर पर सवर्णों दलितों, पिछड़ी जातियों एवं दलितों के बीच हुए संघर्ष जातिगत संघर्ष लगते थे पर वस्तुतः यह वर्गीय संगठन था। दलितों के विरुद्ध अत्याचार करने वाले धनी किसानों का वर्ग था चाहे वे धनी किसान ऊंची जातियों के रहे हो या मध्यम जातियों के। इसका अर्थ यह नही है कि दलितों के विरुद्ध ऊंची जातियों तथा मध्यम जातियों में एकता कायम हो गयी। जहां तक राज्य सत्ता पर अधिकार करने का सवाल था, ऊंची जातियों तथा मध्यम जातियों में प्रतिद्वन्दिता बनी रही।

24.11 राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना एक कठिन कार्य है। कुछ विचारको का मत है कि जाति प्रथा नागरिको में पृथक्तावाद की भावना पैदा करती है। जिससे यह देश की एकता में बाधक है। जाति के प्रभाव के कारण मतदाता अच्छे उम्मीदवारो को वोट देने के बजाए अपनी जाति के उम्मीदवार को वोट देते हैं जिससे संसद एवं विधान सभाओं में चुने गए प्रतिनिधियों की गुणवत्ता घटी है। इससे संसद व विधान सभाएं भी अपने दायित्वों का पालन समुचित ढंग से नही कर पाती। प्रसिद्ध समाजशास्त्री यम0एन0 श्रीनिवासन का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएं अपने मूल रुप में कार्य करने में समर्थ नही रही है।

दूसरी तरफ कुछ विचारको का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण दशा में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता के सांचे

में ढालने का कार्य किया है। जाति के कारण लोगों की लोकतंत्र तथा राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिनिष्ठा बढ़ी है। अमेरिकी लेखकों रुडोल्फ तथा रुडोल्फ का मत है कि ''अपने परिवर्तित रुप में जाति व्यवस्था ने भारत के कृषक समाज में प्रतिनिधि लोकतंत्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है। ''जाति व्यवस्था के परिणाम स्वरुप ही राजनीतिक शक्ति उन वर्गो या समूहों के हाथों में पहुंच चुकी है जो अब तक इससे वंचित थे। जाति प्रथा लोगों को सम्पक्र सूत्र संगठन और नेतृत्व का आधार प्रदान करती है जिससे वे लोग भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग ले सकते हैं जो परम्परागत दृष्टि से समाज के निचले स्तर पर हैं।

भारत में आधुनिकीकरण की कितनी तेज हवा बहे पर जाति प्रथा को समाप्त करना सम्भव नही है। जब जाति बनी रहेगी तो राजनीति में भी जाति का प्रभाव बना रहेगा। इसलिए जरुरत इस बात की है कि जाति प्रथा को जातीय कट्टरता में बदलने से बचा जाये। जातीय कट्टरता ही हिंसा का कारण बनती है। जो न केवल राजनीति को वरन् समस्त सामाजिक जीवन को विषाक्त कर देती है। इसके साथ यह भी जरुरी है कि विभिन्न जातियों को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल होने तथा संवैधानिक पदों पर जाने का अवसर मिले। यदि कुछ जातियां शासन सत्ता का बड़ा हिस्सा हथिया लेती है तो जो जातियां इससे वंचित रह जाती है तो उनमें असंतोष फैलता है जो कि जाति के आधार पर संघर्ष का कारण बनता है। इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया तथा विकास का लाभ समस्त जातियों को मिलना चाहिए और तभी जाति प्रथा राजनीति के लिए अभिशाप नही बनेगी।

24.12 सारांश

जाति प्रथा भारत के सामाजिक ढांचे की अनोखी विशेषता है। जन्म सिद्धान्त जाति समूह की सदस्यता का एकमात्र आधार है। ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगीकरण, नयी न्यायिक पद्धति, पाश्चात्य संसदीय संस्थाओं के आने से जाति प्रथा में परिवर्तन हुआ तथा जाति बंधन ढीले पढ़े। परन्तु ब्रिटिश काल में ही राजनीति और जाति में अंतः क्रिया प्रारम्भ हुई और जाति ने राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित किया। राजनीतिक सत्ता पाने के लिए राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता बढ़ी। समर्थन हासिल करने के लिए जाति एक महत्वपूर्ण कारक बन गया। जिसके परिणाम स्वरुप जातियों का राजनीतिकरण हुआ। जातिगत समीकरण उम्मीदवारों के चयन में एक महत्वपूर्ण तत्व बना।

पहले राजनीतिक सत्ता प्रमुख रुप से ऊंची जातियों के पास थी पर हरितक्रान्ति के बाद मध्यम जातियां भी आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनी और राजनीतिक सत्ता पर उन्होंने भी दावेदारी की। राज्यों की राजनीति में जाति का प्रभाव अधिक पड़ा और अनेक प्रान्तों में प्रभावी जातियों के बीच सत्ता के लिए प्रतिद्वन्दिता स्पष्ट दिखाई पड़ी। देश के अनेक भागों में जातिगत हिंसा की घटनाएं बढ़ी तथा दलित जातियां प्रभावी जातियों के दमन व हिंसा का शिकार बनी। भारत में राजनीतिक क्षेत्र में जातिवाद के प्रभाव को समाप्त करना कठिन कार्य है इसलिए जरुरी है कि विकास का लाभ तथा सत्ता में हिस्सेदारी सभी जातियों को मिले जिससे कि जाति प्रथा अभिशाप के स्थान पर वरदान बने।

24.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोठारी रजनी, (संपादित) कास्ट इन इण्डियन पालीटिक्स–ओरियंटल लांग मैन दिल्ली श्रीनिवासन यम0 सोशल चेन्ज इन माडर्न इण्डिया एलाइड पटिलाशर्स बाम्बे 1966

कोठारी रजनी पालीटिक्स इन इण्डिया ओरियंट लांगमैन दिल्ली 1971

मरिस जोन्स द गर्वेन्मेन्ट एण्डयन

पालीटिक्स आफ इण्डिया वीआई पब्लिकेशन दिल्ली 1974

अनिल भट्ट कास्ट क्लास एण्ड पालीटिक्स दिल्ली 1975

ओमवेट, गेल (संपादित) लैण्ड, कास्ट एण्ड पालीटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स आथर्स गिल्ड दिल्ली 1982

24.14 बोध गम्य प्रश्नों के उत्तर

- **जाति प्रथा की विशेषताएं क्या हैं?**

जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित है और जो अपने सदस्यों का खानपान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लागू करती है। जातियों के पद सोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है। कुछ जातियां विशेषकर के व्यवसाय को अपना पुस्तैनी अधिकार समझती हैं।

- **जाति प्रथा कमजोर होने के कारण क्या है?**

ब्रिटिश शासन के आने के बाद जाति प्रथा कमजोर पड़ी। इसके प्रमुख कारण है पाश्चात्य शिक्षा, पूंजीवादी, अर्थव्यवस्था, नयी न्यायिक पद्धति, पश्चिमी संसदीय संस्थाएं। नए आर्थिक परिवेश में जातियां यद्यपि बनी रही पर उनकी भूमिका नए सिरे से परिभाषित हो गयी।

- **जाति के राजनीतिकरण से क्या अभिप्राय है?**

भारत में जनता जातियों के आधार पर संगठित है और न चाहते हुए भी राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना पड़ेगा। अब राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति के राजनीतिकरण से पुराना समाज नए समाज के नजदीक आया है तथा जातियों में राजनीतिक चेतना बढ़ी है।

- **राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए?**

राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना एक कठिन कार्य है। जहां एक तरफ कुछ विचारक जाति प्रथा को देश की एकता के लिए बाधक मानते हैं वहीं दूसरी तरफ कुछ विचारको का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों का राजनीतिकरण परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता के सांचे में ढालने में कार्य किया है। जाति के कारण लोगों की लोकतंत्र तथा राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा बढ़ी है। यदि राजनीतिक प्रक्रिया व विकास का लाभ समस्त जातियों को मिले तो जातिगत संघर्ष व मतभेद दूर होंगे तथा जाति प्रथा राजनीति के लिए नकारात्मक नही सिद्ध होगी।

इकाई 25

भाषा तथा क्षेत्रीय आंदोलन

इकाई की रुपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 भाषायी तथा क्षेत्रीय आंदोलन– एक अवलोकन

25.3 भारत में भाषायी आन्दोलन

25.3.1 भाषाः संवैधानिक प्रावधान और कानून

25.3.1 भाषाः विवाद तथा राज्यों का पुनर्गठन

25.4 भारत में क्षेत्रीय आंदोलन

25.4.1. भारत में क्षेत्रवाद के उदय के कारण

25.4.2. भारत में क्षेत्रीय आंदोलन के विभिन्न स्वरुप

25.4.2.1. भाषा आधारित क्षेत्रवाद

25.4.2.2. नए राज्यों के निर्माण की मांग

25.4.2.3. अंतर्राज्य सीमा विवाद तथा जल विवाद

25.4.2.4. पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग

25.4.2.5. राज्य की स्वायत्तता संबंधी मांग

25.4.2.6. अंतर्क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग

25.4.2.7. भूमि–पुत्र सिद्धान्त

25.5. सारांश

25.6. शब्दावली

25.7. कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.8. बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम भारत के समक्ष आ रहीं दो चुनौतियों का अध्ययन करेंगे– पहला भाषाई आंदोलन जो कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही शुरु हो गया था और वर्तमान में यह कुछ हद तक नियंत्रण में आ गया है और दूसरा क्षेत्रवाद की समस्या जो आज भी भरतीय राज्य के लिए एक चुनौती बनी हुई है। भारत की एकता और अखण्डता के समक्ष यह सबसे बड़ी चुनौती सिद्ध हुआ है। अस्तु इस इकाई का अध्ययन करके हम निम्नलिखित बातों की जानकारी हासिल कर सकेंगे–

– भारत में भाषायी आंदोलन को समझ सकेंगे।

- भारत में क्षेत्रीय आंदोलन को समझा सकेंगे।
- भारत में क्षेत्रीय आंदोलन के विभिन्न रुपों को जान सकेंगे तथा इसके विकास को समझ सकेंगे।
- भाषायी तथा क्षेत्रीय आंदोलनों के उभरते आयामों को जान सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात इसकी एकता और अखण्डता राजनीति के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी क्योंकि भारत सांस्कृतिक, भाषाई, भौगोलिक तथा आर्थिक भिन्नताओं का देश है। एक तरफ धार्मिक आधार पर भारत का विभाजन पहले ही हो चुका था और दूसरी तरफ भारत की धार्मिक, जातीय, भाषाई, सांस्कृतिक और भौगोलिक विविधताएं थीं। इन विविधताओं में एकता का सृजन करना एक चुनौती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई जिसके तहत भारत की विविधताओं को ध्यान में रखते हुए इसकी एकता को बचाने के लिए विभिन्न प्रयास किए गए जैसे आर्थिक विविधता को कम करना, शिक्षा के प्रसार से भारतीयों में राष्ट्र–भक्ति का प्रसार करना और सांस्कृतिक रुप से विविध प्रकार के जातियों, धर्म और जनजातियों को एक सूत्र में बाँध कर रखना। ऐसा करने के क्रम में विभिन्न समुदायों द्वारा कई प्रतिरोधों के चलते भारत सरकार को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जैसे भारत की राष्ट्रीय भाषा का निर्धारण करना, भारत में क्षेत्रीय प्राकृतिक विविधताओं को ध्यान में रखकर अलग–अलग प्रकार के विकास की नीतियों का निर्माण करना तथा संतुलित विकास करना। इस इकाई में भाषायी और क्षेत्रीय आंदोलनों द्वारा प्रस्तुत की गई चुनौतियों का अध्ययन किया जाएगा और हम इन आंदोलनों की प्रकृति तथा प्रकारों को समझकर इनसे निपटने के विभिन्न सुझावों पर भी ध्यान देंगे।

25.2 भाषायी तथा क्षेत्रीय आंदोलन– एक अवलोकन

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ही भारत कई समस्याओं से जूझ रहा है जिसमें भाषाई और क्षेत्रीयता की समस्या अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह निरन्तर भारत की एकता और अखण्डता को चोट पहुँचा रहा है। भारत एक विशाल उप–महाद्वीप है जहाँ तकरीबन हर गाँव में अलग–अलग भाषाएं बोली जाती हैं। इन भाषाओं को राज्य के आधार पर भी नहीं बाँटा जा सकता क्योंकि एक ही राज्य में अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग भाषाएं बोली जातीं हैं। परन्तु अध्ययन को सुचारु बनाने के लिए इन भाषाओं को क्षेत्रीय आधार पर विभाजित करने का प्रयास किया जा सकता है जैसे–उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश, छत्तिसगढ़, राजस्थान, बिहार, झारखण्ड, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली में हिन्दी भाषा बोलने वालों की संख्या अधिक है। पंजाब में हिन्दी और पंजाबी बोली जाती है। मध्य दक्षिण में मराठी और गुजराती तथा दक्षिण राज्यों में तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम भाषाएं बोली जाती हैं।

भारत में संपक्र भाषा सदैव बदलती रही। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा संपक्र भाषा के रुप में थी, तो मुगल काल में फारसी और ब्रिटिश काल में अंग्रेजी। देश की स्वतंत्रता ने भाषा को एक विवाद के रुप में खड़ा कर दिया। राजनेताओं ने तो हिन्दी का समर्थन करते हुए इसे ही राजभाषा घोषित करने का प्रयास किया परन्तु समय बीतने के साथ संपक्र भाषा का यह विवाद और भी गहराता चला गया

जब विभिन्न प्रांतों से अपनी–अपनी भाषा को मान्यता दिलाने से संबंधित विवाद खड़े होने लगे। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची ने विभिन्न प्रांतीय भाषाओं को मान्यता प्रदान किया है। मूल संविधान में 14 भाषाओं को मान्यता मिली थी– असमिया, बंगला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तमिल, तेलगू और उर्दू। 1967 के 21वें संविधान संशोधन में सिंधी भाषा को जोड़कर 15 भाषाएं बनीं और 1992 में 71वें संविधान संशोधन से इसमें कोंकणी, नेपाली और मणिपूरी को भी शामिल करते हुए भाषाओं की कुल संख्या 18 हो गई तथा 92वें संविधान संशोधन के पश्चात इसकी संख्या 22 हो गई जिसमें चार नई भाषाओं को शामिल कर लिया गया जो बोडो, डोगरी, मैथली और सांथाली थे। भारत में 91 प्रतिशत लोग इन भाषाओं का प्रयोग करते हैं जिनमें से 46 प्रतिशत लोग हिन्दी भाषी हैं। संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपी देवनागरी है। भारत की राजभाषा से संबंधित कई विवाद तब उठे जब भारत में गैर–हिन्दी भाषाई क्षेत्रों में लोगों ने इसका विरोध किया और अपनी क्षेत्रीय भाषा को मान्यता दिलवाने के लिए कवायद शुरु की।

भारत एक ऐसा देश है जो विविधताओं से भरा हुआ है और भारत की पहचान ही अनेकता में एकता के रुप में होती है जिसमें कई धर्म, संस्कृति, भाषा, नस्ल और क्षेत्र के लोग भारतीय होने की पहचान विश्व के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि इस विविधता में कोई विखण्डन नहीं है। ये विविध पहचान के लोग अपनी विशिष्टता के लिए सदैव संघर्षरत रहे हैं जिससे क्षेत्रवाद की समस्या उत्पन्न होती है। क्षेत्रवाद की समस्या वर्तमान में भी भारत की एकता और अखण्डता के लिए चुनौती साबित हो रही है। इसकी शुरुआत स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ही हो गई। क्षेत्रीयतावाद का तात्पर्य किसी छोटे से क्षेत्र में भाषा, धर्म, भौगोलिक परिस्थितियों तथा सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को लेकर अपने अलग अस्तित्व के लिए मांग से है। इसके विभिन्न स्वरुप भी देखने को मिलते हैं जैसे पृथक राज्य की मांग, संघ से पृथक होने की मांग, स्वायत्तता की मांग, उत्तर–दक्षिण विभाजन तथा अंतर्राज्यीय विवाद। इस प्रकार के क्षेत्रीय मांगों के कई कारण हो सकते हैं जैसे भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, भाषाई, इत्यादि। इस प्रकार के आंदोलनों ने कई बार सफलता भी हासिल कर ली है जिसके चलते ऐसी मांगे और इस प्रकार के आंदोलनों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। (इसका विस्तृत अध्ययन हम इसी इकाई के 21.4 में करेंगे।)

इस इकाई में हम इन दो समस्याओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे और भारत में इसके विभिन्न आयामों की भी चर्चा करेंगे।

25.3 भारत में भाषायी आंदोलन

25.3.1 भाषाः संवैधानिक प्रावधान और कानून

भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने भारत की संपक्र भाषा, अधिकारिक भाषा औश्र राष्ट्रीय भाषा के संबंध में तकरीबन छः सप्ताह तक विचार– विमर्श। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भाषाई समस्याओं की बात करें तो इसकी शुरुआत तब हुई जब भारतीय राजनेताओं ने हिन्दी भाषा को राज–भाषा के रुप में मान्यता देने पर बल दिया। डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने भी यह कहा था कि संविधान का कोई भी अंश इतना विवादास्पद नहीं रहा जितना की भाषा से संबंधित अनुच्छेद रहे हैं। बहुत बहस और विचार– विमर्श के बाद मुनशी, आयनगर द्वारा प्रतिपादित यह शूत्र अपनाया गया कि भारतीय संघ की अधिकारिक भाषा हिन्दी होगी, जो देवनागरी

लिपी में होगी और संविधान के लागू होने के 15 वर्षों तक अंग्रेजी का भी प्रयोग किया जाएगा। गैर–हिन्दी भाषाई क्षेत्रों ने इस प्रयास का घोर विरोध किया क्योंकि हिन्दी भाषा उनके लिए एक विदेशी भाषा थी। इन क्षेत्रों ने अपनी भाषाओं को भी मान्यता दिए जाने का बल पूर्वक प्रयास किया। हालाकि भारत में मौजूद सभी भाषाएं भारत की ही भाषा हैं परन्तु किसी एक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक था जो संपक्र भाषा के रुप में प्रयोग की जा सके। अंग्रेजी को एक विकल्प के रुप में माना जा सकता था परन्तु अंग्रेजी भाषा भी आम लोगों की पहुँच से परे थी। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में कुल 22 भाषाओं को शामिल किया गया है जो शासकीय पत्राचार के लिए प्रयोग किए जाने के लिए आवश्यक समझी गईं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 तक भाषा संबंधी प्राविधान दिए गए हैं। अनुच्छेद 343 में यह प्रावधान किया गया है कि संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी तथा संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रु‍ भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रुप होगा। मुनशी आयनगर के सुझाव अनुसार अंग्रेजी के प्रयोग को 15 वर्ष के लिए मान्यता भी दी गई है। इस अवधि के पश्चात संसद यह तय करेगी कि अंग्रेजी के प्रयोग को बंद करना है अथवा नहीं और अंकों का देवनागरी रुप प्रयोग करना है या नहीं।

अनुच्छेद 344 के अनुसार संविधान लागू होने के पहले 5 वर्षों उपरान्त फिर 10 वर्षों के बाद राष्ट्रपति एक आयोग गठित करेगा जिसमें एक अध्यक्ष और संविधान के आठवीं अनुसूची में वर्णित विभिन्न भाषाओं के प्रतिनिधि होंगे। इनका कार्य यह सुनिश्चित करना होगा कि हिन्दी भाषा का प्रयोग संघ के शासकीय प्रयोजनों में अधिक से अधिक हो और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग कम से कम हो। इस आयोग का निमार्ण इसलिए किया गया था ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के व्यक्तियों को ऐसा न लगे कि उनकी भाषा का महत्व कहीं से भी कम हो रहा है और उन्हे शासकीय कार्यों में कोई परेशानी न हो।

ऐसे ही एक आयोग का निर्माण सन् 1955 में किया गया जिसका कार्य राष्ट्रपति को संविधान के अनुच्छेद 344 (1) के संबंध में सुझाव देना था। आयोग में 21 सदस्य थे और इसके अध्यक्ष बी0जी0 खेर थे। आयोग ने यह सिफारिश की कि भारत में अधिकांश लोग हिन्दी भाषी हैं इसलिए शासकीय कार्यों में हिन्दी भाषा को बढ़ावा देने की आवश्यकता है साथ ही राज्यों को यह स्वतंत्रता दी गई कि वे अपने शासकीय और न्यायिक कार्यों के लिए अपने प्रादेशिक भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु आयोग ने यह भी सिफारिश की कि राज्यों के मध्य और राज्य तथा केन्द्र के बीच संपक्र भाषा हिन्दी ही होगी।

जब इस आयोग के सिफारिशों का संसदीय समिति द्वारा परीक्षण किया गया तो संसद ने हिन्दी को प्राथमिकता देते हुए अपने सुझाव प्रस्तुत किए जिसे लेकर गैर–हिन्दी भाषी क्षेत्रों में असंतोष उभरने लगा। इस असंतोष को देखते हुए पुनः एक राष्ट्रीय एकता समिति का गठन किया गया। इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा में त्री–भाषीय पद्धति (हिन्दी, अंग्रेजी और एक क्षेत्रीय भाषा) को अपनाने पर बल दिया। यह भी सिफारिश दी गई कि विश्वविद्यालय स्तर पर इन प्रदेशों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर प्रादेशिक भाषा होगी। देश के सभी विश्वविद्याालयों के मध्य संपक्र भाषा पहले कुछ वर्षों तक अंग्रेजी होगी और फिर धीरे–धीरे इसका स्थान हिन्दी ले लेगी।

सन् 1963 में नया भाषा कानून बना जिसने फिर से हिन्दी तथा अंग्रेजी पर बल दिया और क्षेत्रीय भाषाओं को विशेष महत्व नहीं दिया गया साथ ही अंग्रेजी को अतिरिक्त अधिकारिक भाषा के रुप में मान्यता मिली। इसके कारण इस कानून के खिलाफ भी वही प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जो पहले के काल में होती रही थी।

25.3.2. भाषाः विवाद तथा राज्यों का पुनर्गठन

भारत में भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की व्यवस्था सन् 1912 से ही शुरु हो गई थी जब बंगाल का विभाजन बंगाल, उड़ीसा और असम के रुप में हुआ। हालांकि यह विभाजन राजनीतिक कारणों से हुआ परन्तु भाषाई आधार को भी ध्यान में रखा गया। एक बार इस आधार पर राज्यों के बनने से आंध्र प्रदेश में भी इसकी मांग उठने लगी जिसका उद्देश्य था कि मद्रास की रियासत से स्वयं को अलग कर लेना। **मांन्टेग–चेम्सफॉर्ड रिर्पोट** में भी इसी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने की बात की गई थी जिससे प्रशासनिक कार्यों के संचालन में सुविधा हो सके परन्तु इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया गया। भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के संदर्भ में कांग्रेस का रुख अस्पष्ट था क्योंकि कांग्रेस ने सन् **1920** के **नागपुर सम्मेलन** में भारत को 21 कांग्रेसी प्रान्तों में विभाजित कर राजनीतिक दाँव खेला। कांग्रेस को जन समर्थन हासिल करने का यह एक सुनहरा अवसर प्रतीत हुआ कि भाषाई आकांक्षाओं और भावनाओं का राजनीतिक लाभ उठाया जा सकता है। यहाँ तक कि **1928** के **नेहरु रिर्पोट** में भी भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की बात को स्वीकार किया गया। सन् 1945–46 के चुनावी घोषणा में कांग्रेस ने भाषाई आधार पर पुनर्गठन के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर की। परन्तु भारत की स्वतंत्रता के बाद जब रियासतें भारत में विलीन होने लगीं तो यह मांग पुनः उठी परन्तु इस बार कांग्रेस ने इस मांग को फिलहाल के लिए टाल दिया क्योंकि यह भारत की एकता को चोट पहुँचा सकता था और वैसे भी भारत में अन्य प्रकार के विरोध पनपने लगे थे।

परन्तु विरोध के निरन्तर बढ़ते जाने के कारण विवश होकर संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने **1948** में **धर आयोग** का गठन किया जिसका कार्य राज्यों में जा कर वहाँ इन मांगों की गंभीरता का अध्ययन करना था। इस आयोग ने इस मांग को भारत के हित में न होने के कारण अस्वीकार कर दिया। सन् **1948,** दिसम्बर में ही एक और उच्च–स्तरीय आयोग का गठन किया गया जिसका नाम जवाहरलाल नेहरु, बल्लभ भई पटेल और पट्टाभी सीतारमैया के नाम से **जे0वी0पी0** रखा गया। इस आयोग ने भी विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के पश्चात् भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन को तत्काल के लिए अस्वीकार कर दिया।

सन् 1950 में जब संविधान को लागू किया गया तो संविधान में 9 भाग 'अ' के राज्य, 8 भाग 'ब' के राज्य, 10 भाग 'स' के राज्य और 1 भाग 'द' के राज्य के रुप में भारत के कुल 28 राज्यों को दर्शाया गया और साथ ही अनुच्छेद 3 में यह व्यवस्था की गई कि संसद के द्वारा आवश्यकता अनुसार राज्यों का निर्माण, उनका क्षेत्रफल, सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रावधान का मुख्य कारण यह था कि राज्यों की इन मांगों को लम्बे समय तक टाला जा सके।

केन्द्र द्वारा राज्यों के पुनर्गठन को टालने का प्रयास अधूरा नजर आ रहा था क्योंकि कई राज्यों में विरोध साफ देखने को मिले। सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण के रुप में विशाल आंध्र आंदोलन को लिया जा सकता है जिसमें पोट्टी श्रीरामुलू

आमरण अनशन पर बैठे और 56 दिनों बाद उनकी मृत्यू हो गई। इससे आंदोलन और भी भड़क गया और अंततः 19 दिसम्बर 1952 में प्रधानमंत्री ने आंध्र प्रदेश के गठन की घोषणा कर दी और 1 अक्टूबर 1953 में राज्य की सीमाओं का निर्धारण हुआ जो तेलुगू भाषी लोगों का राज्य बन गया।

आंध्र के निर्माण के बाद भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग और तेजी से बढ़ने लगी और 22 दिसम्बर 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग के निर्माण की घोषणा की गई जिसके अध्यक्ष न्यायधीश एफ0 फज़ल अली थे। इस आयोग ने यह सिफारिश की कि केवल भाषाई आधार या सांस्कृतिक आधार पर राज्यों का पुनर्गठन ठीक नहीं है। आयोग की इस सिफारिश पर भी कई विवाद खड़े हुए। यह दलील दी गई कि जब अन्य सभी राज्य भाषाई आधार पर लगभग सम हैं तो केवल पंजाब और बम्बई ही क्यों द्वि–भाषीय रहे। आयोग के सदस्यों में ही कोई आम सहमति नहीं बन पाई थी इसलिए सरकार ने आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया और 14 राज्य तथा 6 केन्द्र शासित प्रदेशों का निर्माण किया।

बम्बई के मराठा और पंजाब के सिक्ख राज्य पुनर्गठन आयोग से संतुष्ट न होने के कारण अपने आक्रोश को व्यक्त करते रहे। अंततः 1960 में बम्बई को महाराष्ट्र और गुजरात दो अलग–अलग राज्यों के रुप में बनाया गया। इस प्रकार राज्यों की संख्या अब 15 हो गई। इसी क्रम में 1962 में नागालैंड का निर्माण किया गया जो असम को विभाजित कर बनाया गया। 1966 में पंजाब को विभाजित कर पंजाब और हरियाणा राज्य का निर्माण हुआ। नागालैंड के निर्माण के बाद असम में पुनः मेघालय को लेकर विवाद उठा और 1970 में मेघालय का निर्माण किया गया। अक्टूबर 1971 में सरकार ने पुनः असम को विभाजित करने का निर्णय लिया और मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश का निर्माण किया गया।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भाषाई समस्याओं ने न सिर्फ क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है बल्कि और भी समस्याओं को जन्म दिया है जिससे भारत की एकता और अखण्डता को भारी नुकसान पहुँचा है।

संवैधानिक प्रावधानों और सरकार द्वारा किए गए प्रयासों से स्पष्ट है कि भारत में हिन्दी और अंग्रेजी के अलावा अन्य सभी भाषाओं को केन्द्र स्तर पर उतना महत्व नहीं दिया गया। अतः इसके विरोध में प्रतिक्रिया उत्पन्न होना स्वाभाविक था। भारत के गैर–हिन्दी भाषायी क्षेत्रों में हिन्दी को लेकर घोर असंतोष था जिसका मुख्य कारण यह था कि इन क्षेत्रों के लोगों में अपनी भाषा के अस्तित्व को लेकर चिन्ता थी। भाषा संबंधी विरोध का पहला रुप हमें तमिलनाडु में देखने को मिलता है जहाँ डी0एम0के0 पार्टी ने इसी मुद्दे को लेकर वहाँ राजनीतिक सफलता हासिल की और कांग्रेस को इसका भुक्तभोगी होना पड़ा। स्थिति तो यह थी कि कांग्रेस को इस संबंध में बहुत वर्षों तक विरोध का सामना करना पड़ और कांग्रेस का इस राज्य में पूरी तरह से सफाया हो गया था। यही स्थिति बंगाल, महाराष्ट्र और कर्नाटक में भी थी। ये प्रदेश किसी भी परिस्थिति में हिन्दी को स्वीकारना नहीं चाहते थे। इन राज्यों ने तो केन्द्र की अनदेखी करके प्रादेशिक भाषा में ही शिक्षण संस्थानों में शिक्षण अनिर्वाय कर दिया।

भाषा संबंधी ये विवाद भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही शुरु हो गए थे जिसके कारण भारत में भाषा पर आधारित राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राजनीतिक दबावों को ध्यान में रखकर और खासकर तेलगु नेता पोट्टी श्री रामुलु के आमरण अनशन और फिर उनकी मृत्यु से उत्पन्न हुई परिस्थितियों के दबाव में

आकर जवाहरलाल नेहरु ने राज्यों का भाषा–आधारित पुनर्गठन करने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की। इस प्रयोजन से राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गई और भाषा को आधार मानकर बम्बई (वर्तमान में मुम्बई) को गुजरात और महाराष्ट्र दो प्रान्तों में विभाजित किया गया। इसी तर्ज पर 1966 पर पंजाब को पंजाब और हरियाणा दो राज्यों में विभाजित किया गया। असम में बंगाली और आसामी भाषा को लेकर विभाजन और इसी प्रकार कई अन्य राज्यों का भी पुनर्गठन हुआ।

राज्यों के पुनर्गठन के अतिरिक्त भी उत्तर–दक्षिण का विवाद और उर्दू को लेकर एक अलग ही प्रकार का विवाद उत्पन्न हुआ। भाषाई अल्पसंख्यकों का मुद्दा भी महत्वपूर्ण रहा जिसके उदाहरण उत्तर प्रदेश में उर्दू को लेकर, कर्नाटक में मराठी को लेकर और पंजाब में हिन्दी को लेकर उत्पन्न विवादों के रुप में देखे जा सकते हैं।

अतः उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाई विवाद भारत की एकता और अखण्डता के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन कर उभरे और आज तक कोई ऐसा उपाय नहीं ढूँढ़ा जा सका है जिससे इस विवाद पर विराम लगाया जा सके। वास्तविकता तो यह है कि भाषा संबंधी इन संकीर्णताओं से जब तक उभरने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक इस समस्या का कोई समाधान हो ही नहीं सकता। किसी भी देश के लिए जिस प्रकार एक राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गान, आदि उसकी प्रतिष्ठा से जुड़े होते हैं ठीक उसी प्रकार एक राष्ट्रीय भाषा की भी आवश्यकता होती है। परन्तु भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि भारत आज तक किसी भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा नहीं दिला सका।

बोध प्रश्न 1

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. भारत में भाषाई आंदोलन की शुरुआत के मुख्य कारण का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....
....

2. भाषाई आंदोलन के कारण भारत में हुए राज्यों के पुनर्गठन के किन्ही तीन उदाहरणों का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

25.4 भारत में क्षेत्रीय आंदोलन

क्षेत्रीयता का तात्पर्य किसी निश्चित भू–भाग में रह रहे लोगों के द्वारा अपनी क्षेत्रीय पहचान जैसे भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, इत्यादि तथा किन्हीं

समस्याओं जैसे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक, के आधार पर विशिष्ट पहचान की मांग तथा केन्द्र से अलग रहकर अपनी पहचान को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्तियाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देखने को मिलती हैं और इस प्रवृत्ति में निरंतर वृद्धि होती देखी जा सकती है। क्षेत्रवाद ने भारत की एकता और अखण्डता को करारी चोट पहुँचायी है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले इस प्रवृत्ति के उभरने के कारणों को पता लगाएं और फिर इसके विभिन्न स्वरुपों की चर्चा करें और यह देखें की किस प्रकार क्षेत्रीयता की समस्या भारत के लिए एक चुनौती बनती जा रही है।

25.4.1. भारत में क्षेत्रवाद के उदय के कारण

भारत में क्षेत्रवाद की समस्या का प्रादुर्भाव स्वतंत्रता के बाद ही हो जाती है जिसके पीछे विभिन्न कारण हैं जैसे आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, भैगोलिक, सांस्कृतिक और भाषाई कारक। भारत एक विशाल उप–महाद्वीप है जो विधिताओं से परिपूर्ण है। यहाँ अलग–अलग धर्म, जाति, भाषा, भौगोलिक क्षेत्र तथा संस्कृति के लोग रहते हैं। स्वतंत्रता के बाद से ही राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ जिसके अंतर्गत इन विविधताओं के मध्य एकता लाने का प्रयास किया जा रहा है। भारतीय संघीय व्यवस्था में केन्द्र को ज्यादा महत्व दिए जाने का भी यही कारण रहा है कि भारत की इन विविधताओं को एक सूत्र में बाँधकर रखा जा सके। परन्तु फिर भी ऐसी प्रवृतियाँ निरन्तर उठती दिखई देती हैं। इस प्रवृत्ति की सबसे पहली झलक हमें भारत की स्वतंत्रता के समय से ही दिख जाती है – जब स्वतंत्रता प्राप्ति के दौरान ही धार्मिक आधार पर भारत का विभाजन हो गया, जब भाषाई आधार पर भारतीय राज्यों का पुनर्गठन करना पड़ा, राज्यों के ही विभिन्न क्षेत्रों में मूल राज्य से अलग होकर नए राज्य के निर्माण की मांग की गई और कुछ राज्यों ने तो क्षेत्रवाद की सीमा के अंतिम छोर पर जाते हुए भारत से ही अलग होने की मांग की।

क्षेत्रावद की समस्याओं को मुख्य रुप से कुछ बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है जैसे– अपनी पहचान को स्थापित करने का प्रयास, आर्थिक शोषण से निजात पाने का प्रयास, राजनीतिक कारण और राजनीतिक नेताओं का निहित स्वार्थ।

क्षेत्रवाद का सबसे महत्वपूर्ण कारण 'पहचान' है। विभिन्न क्षेत्रों में रह रहे लोग अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति और अपने इतिहास से भावनात्मक रुप से जुड़े होते हैं। समस्या इन भावनात्मक जुड़ाव में नहीं है क्योंकि हर स्थान और प्रत्येक व्यक्ति में यह भावना देखी जा सकती है। परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जब लोगों में इन भावनाओं को लेकर अलगाव की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इन लोगों को यह एहसास होने लगता है कि वर्तमान की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था उनके हित में नहीं है तथा उनके हितों को नुकसान पहुँचा सकती है जिससे उनकी अलग पहचान खतरे में पड़ सकती है। इन लोगों को मुख्यधारा से जोडने के प्रत्येक प्रयास इस प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा देते हैं। ऐसा उदाहरण जनजातीय समूहों खासकर उत्तर–पूर्वी राज्यों में देखने को मिलता है जहाँ क्षेत्रवाद की समस्या का मूल कारण यही है। हालांकि विकास की स्थिर या धीमी गति और अन्य कई कारण भी साथ–साथ चलते हैं परन्तु पहचान का संकट इन क्षेत्रों में क्षेत्रवाद के पनपने का मौलिक कारण है। इसी क्रम में झारखण्ड, उत्तराखण्ड और छत्तीसगढ़ का नाम लेना

आवश्यक हो जाता है जिन्हे सन् 2000 में बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश से क्रमशः अलग करके इसी आधार पर नए राज्यों का निर्माण किया गया।

जब प्रश्न आर्थिक विकास का उठता है तो हम यह पाते हैं कि भारत की विशालता को ध्यान में रखकर आज तक न तो केन्द्र सरकार संतुलित विकास करने में सक्षम हो सकी है और न ही बड़े–बड़े राज्यों में ऐसा संभव हो पाया है। नतीजा यह होता है कि लोगों में सरकार और सरकारी प्रयासों के प्रति उदासीनता घर कर लेती है। यह अविश्वास ही क्षेत्रवाद को बढ़ावा देता है। लोगों को यह विश्वास हो जाता है कि जब तक उनका अपना कोई अलग राज्य नहीं होगा तब तक विकास संभव ही नहीं हो सकता क्योकि सरकार तो केवल उन्हीं क्षेत्रों के विकास में लगी है जो पहले से सशक्त हैं या फिर संसाधनयुक्त हैं। इस प्रकार यह बड़ी समस्याओं को जन्म देता है जिसमें न केवल अलग राज्य की मांग शामिल होती है बल्कि कुछ क्षेत्रों से तो भारत से अलग होकर स्वायत्तता की भी मांग पैदा होने लगी है। यदि केन्द्र की बात करें तो भारत के सभी पिछड़े राज्य केन्द्र को आरोपित करते हैं कि विकास की धीमी गति का सबसे बड़ा कारण केन्द्र सरकार की उदासीनता है और राज्यों का उदाहरण लें तो उत्तर प्रदेश जैसे अन्य बडे राज्यों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

क्षेत्रवाद की समस्या के उदय का राजनीतिक कारण 1967 के पश्चात उभर कर आता है जब केन्द्र और राज्यों में अलग– अलग राजनीतिक दलों के नेतृत्व में सरकार बनने शुरु हुए। नतीजा यह हुआ कि राज्यों में केन्द्र के विरुद्ध असंतोष उजागर होने लगा। राज्य सरकारों को यह प्रतीत होने लगा कि केन्द्र उन राज्यों को विशेष महत्व देता है जहाँ उनके राजनीतिक दल की सरकार हैं और उन पर कम जहाँ उनकी सरकार नहीं हैं। इस प्रकार केन्द्र से सौदेबाजी करने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ जो क्षेत्रवाद की समस्या के पनपने का एक महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। इन मुद्दों पर राजनीतिक दलों की सक्रीय भूमिका ने इस समस्या को और भी गंभीर बना दिया है।

क्षेत्रवाद की समस्या का एक कारण यह भी है कि किन्हीं क्षेत्रों के लोगों में राजनीतिक चेतना का प्रसार पूरी तरह नहीं हो पाया था जिसके कारण वे सरकार तक अपनी समस्याओं और आवश्यकताओं को पहुँचा पाने में समर्थ नहीं हो पाते थे। ऐसे में समस्याओं के समाधान की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। परन्तु बाद के कालों में राजनीतिक रुप से सक्रीय लोगों ने इन भावनाओं का फायदा उठाकर खुद नेता बन बैठे और अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए निरन्तर इन्हीं क्षेत्रवादी मांगों को अपने राजनीतिक मांगों का मूल आधार बना लिया। क्षेत्रीय नेताओं का इतनी तेजी से राजनीतिक परिदृश्य में उभरना इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार ये राजनीतिक नेता अपने स्वार्थ की पूर्ती के लिए देश के हितों को भी दांव पर लगा देते है।

उपरोक्त बिन्दुओं में क्षेत्रवादी प्रवृत्ति के उभरने के मूल कारणों को हमने देखा और अब क्षेत्रवाद के विभिन्न रुपों का अध्ययन किया जाएगा।

25.4.2. भारत में क्षेत्रीय आंदोलन के विभिन्न स्वरुप

भारत में क्षेत्रवाद की समस्या का कोई भी अध्ययन तब तक पूरा नहीं माना जा सकता जब तक क्षेत्रवाद के विभिन्न रुपों का अध्ययन न कर लिया जाए। इसलिए इकाई के इस अंश में हम क्षेत्रवाद के विभिन्न रुपों का अध्ययन करेंगे।

25.4.2.1. भाषा आधारित क्षेत्रवाद

भारत में क्षेत्रवाद के विभिन्न रुप देखने को मिलते हैं जिनमें से सबसे पुराना तथा महत्वपूर्ण भाषाई क्षेत्रवाद है। भाषाई कारक ने तीन प्रकार से क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है–

1. भाषाई आधार पर केन्द्र को राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए विवश करना तथा दबाव बनाना।
2. हिन्दी को एक मात्र राज–भाषा के रुप में मान्यता दिए जाने का विरोध करना तथा क्षेत्रीय भाषाओं को भी हिन्दी के बराबर महत्व देना।
3. राज्यों में रह रहे भाषाई अल्पसंख्यकों के प्रति आक्रामक रवैया अपनाना।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल से ही भाषा को लेकर भारत में विवाद चलते रहे जिसमें न सिर्फ दक्षिण भारतीय राज्यों ने हिन्दी के विरुद्ध अपना आक्रोश जताया बल्कि पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में भी भाषा को लेकर निरंतर आक्रोश रहा। दूसरी तरफ उर्दू भाषा के समर्थकों ने भी हिन्दी को अधिक महत्व दिए जाने का विरोध किया। 1956 में भाषा आधारित राज्यों का पुनर्गठन न्यायधीश फजल अली की अध्यक्षता में बने राज्य पुनर्गठन आयोग द्वारा किया गया। परन्तु कई राज्य जैसे बम्बई, पंजाब, आदि, क्योकि आयोग का यह मानना था कि केवल भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण उचित नहीं है कुछ अन्य काराकों का भी होना आवश्यक है। अतः भाषा के आधार पर पुनर्गठन की मांग पूर्णरुप से बंद नहीं हुई और कई राज्य हिंसात्मक और अहिंसात्मक तरीको से अपनी मांग पर अड़े रहे। नतीजा यह हुआ कि विवश होकर 1960 में बम्बई को पुनर्गठन महाराष्ट्र और गुजरात के रुप में किया गया, 1962 में असम को तोड़कर नागालैंड़ बनाया गया, 1966 में पंजाब को पंजाब और हरियाणा में विभाजित किया गया, 1971 में असम को पुनः तोड़कर मेघालय का निर्माण किया गया और 1971 में ही मिजोरम और अरुणाचल को केन्द्र शासित प्रदेश के रुप में मान्यता दी गई।

भाषाई क्षेत्रवाद के अंतगर्त आने वाली दूसरी समस्या केन्द्र में हिन्दी को अधिकारिक भाषा बनाए जाने से जुड़ा है। भारतीय संविधान में यह व्यवस्था दी गई थी कि हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि भारत की अधिकारिक भाषा होगी परन्तु 15 वर्षों तक अंग्रेजी को दूसरी अधिकारिक भाषा का दर्जा दिया जाएगा और साथ ही संसद को यह अधिकार दिया गया कि वह यह समय बढ़ा भी सकती है। (अनुच्छेद 343)

उपरोक्त निर्णय संविधान सभा द्वारा लिया गया था परन्तु कुछ दक्षिण भारतीय राज्य विशेष रुप से तमिलनाडु ने इसे स्वीकार नहीं किया। यह विरोध काफी लंबे समय तक चला जिसके परिणामस्वरुप 1967 में अंग्रेजी को तब तक के लिए द्वितीय अधिकारिक भाषा के रुप में मान्यता दी गई जब तक कि राज्यों की विधायिका इसको रोकने या त्यागने हेतु कोई कानून न बना दे। इस कानून से यह स्पष्ट है कि केन्द्र ने राज्यों पर हिन्दी को थोपने का कोई प्रयास नहीं किया परन्तु इसके बाद भी तमिलनाडु में त्री–भाषीय व्यवस्था को त्याग कर केवल अंग्रेजी और स्थानीय भाषा को ही महत्व दिया गया। हालांकि भारत में अधिकांश लोगों के द्वारा हिन्दी भाषा ही बोली जाती है लेकिन उपरोक्त विरोधों को देख कर भाषा आधारित क्षेत्रवाद की समस्या का अंदाजा लगाया जा सकता है।

भाषायी क्षेत्रवाद के तीसरे रुप में भाषाई अल्पसंख्यकों पर किए जाने वाले अत्याचार को रखा जा सकता है। भारत के किसी भी राज्य में केवल एक ही भाषा नहीं बोली जाती। जिस राज्य में जिस भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या ज्यादा होती है उस भाषा का प्रयोग करने वाले लोग राज्य में रह रहे अन्य भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों को हीन दृष्टि से देखते हैं और उन्हे किसी भी प्रकार से स्वीकारने को तैयार नहीं होते जिससे भारत की एकता और अखण्डता पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाता है। भारतीय राज्यों में ऐसे कई उदाहरण देखे जा सकते हैं जैसे कर्नाटक में कन्नड़, तमिल, उत्तर प्रदेश और बिहार में हिन्दी और उर्दू को लेकर विवाद, गोआ में कोंकणी और मराठी को लेकर और असम में बंगाली और आसामी तथा पंजाब में हिन्दी और पंजाबी को लेकर विवाद।

अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा आधारित क्षेत्रवाद एक बहुत ही गंभीर समस्या है जो विभिन्न रुपों में भारतीय एकता और अखण्डता के लिए एक खतरा बनी हुई है।

25.4.2.2. नए राज्यों के निर्माण की मांग

भाषा पर आधारित नवीन राज्यों की मांग सन् 1971 तक चलती रही और कई नए राज्यों का निर्माण भी हुआ परन्तु नए राज्यों के निर्माण की मांग नहीं खत्म हुई बल्कि इसकी मांग का आधार जरुर बदल गया। पहले यह मांग भाषा के आधार पर होती थी परन्तु इसके बाद इस मांग का आधार जनजातीय, सांस्कृतिक और विकास पर आधारित हो गया। उदाहरण के रुप में मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़, महाकौशल तथा मध्य भारत की मांग, बिहार, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल और उड़िसा के जनजातियों द्वारा झारखण्ड के निर्माण की मांग, गोरखलैंड की मांग, महाराष्ट्र में विदर्भ की मांग, गुजरात में सौराष्ट्र और कक्ष की मांग, उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, उत्तरांचल, हरित प्रदेश और बुंदेलखण्ड की मांग, आंध्र प्रदेश में तेलंगाना की मांग, इत्यादि।

25.4.2.3. अंतर्राज्य सीमा विवाद तथा जल विवाद

राज्यों के मध्य सीमा विवाद और जल विवाद भी क्षेत्रवाद का एक रुप ही है। इसकी शुरुआत तो आजादी के बाद से ही हो जाती है परन्तु आज तक ये चला आ रहा है। इसकी तीव्रता सन् 1956 में राज्यों के पुनर्गठन के बाद से और बढ़ गई। आज भी महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच बेलगांव को लेकर विवाद, कशरगोद को लेकर कर्नाटक और केरल के बीच चण्डीगढ़ को लेकर पंजाब और हरियाणा के बीच विवाद, इत्यादि।

इसी प्रकार जल विवाद भी एक प्रकार से क्षेत्रवाद का ही रुप है क्योंकि इन विवादों का संबंध सीधे तौर पर क्षेत्रीयता की भावना से प्रभावित है। पंजाब और हरियाणा में रावी, सतलज और व्यास को लेकर विवाद, नर्मदा नदी के बंटवारे को लेकर गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान के मध्य विवाद, तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल के मध्य कावेरी नदी के जल को लेकर विवाद और कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के मध्य गोदावरी नदी के जल को लेकर विवाद।

25.4.2.4. पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने के लिए मांग

केन्द्र–शासित प्रदेशों में पूर्ण राज्य हासिल करने की मांग भी क्षेत्रवाद को दर्शाता है। यह एक प्रकार से अपने क्षेत्र के प्रति लगाव को दर्शाता है जो कि

स्वाभाविक है। क्षेत्रीय पहचान के लिए इस प्रकार की मांगे भारत के लिए कोई चुनौती नहीं प्रस्तुत करतीं परन्तु इस प्रकार की मांगे क्षेत्रीयता को तो दर्शाती ही हैं। इस प्रकार की मांगे तब उठना शुरु हुईं जब हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। इसके बाद से गोआ, अण्डमान, लक्षद्वीप, मिजोरम, अरुणाचल ओर दिल्ली जैसे केन्द्र शासित प्रदेशों ने भी संपूर्ण राज्य के दर्जे की मांग की।

25.4.2.5. राज्य की स्वायत्तता संबंधी मांग

राज्य स्वायत्तता की मांग एक और प्रकार का क्षेत्रवाद है और राजनीतिक दल जैसे डी0एम0के0 और ए0आई0ए0डी0एम0के0 दक्षिण में, अकाली दल उत्तर में, तेलुगू देशम पार्टी ने आंध्र में इस प्रकार की मांगे की हैं। सन् 1967 तक जब केन्द्र और राज्यों में एक ही पार्टी की सरकार थी तब केन्द्र और राज्य के मध्य संबंध भी मधुर थे परन्तु जैसे ही राज्यों में अलग पार्टी की सरकार का गठन हुआ केन्द्र और राज्य के मध्य तनाव बढ़ने लगा। गवर्नर की भूमिका, राज्यों के मंत्रिपरिषद के निर्माण व विघटन को लेकर विवाद, गवर्नर द्वारा कई बिलों को राष्ट्रपति के अनुमोदन और विचार के लिए रोकना, संवैधानिक संस्थाओं का दुर्पयोग, आदि ऐसे कई कारण थे जिनसे केन्द्र और राज्यों के संबंधों में कटुता आने लगी। इसलिए राजनीतिक दलों ने राज्यों को और भी स्वायत्त किए जाने की मांगे उठाईं।

25.4.2.6. अंतर्क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग

राज्यों के अंदर ही राज्य की मांग क्षेत्रवाद का एक और रुप है। यह मांग मुख्य रुप से राज्यों के अंदर ही किसी विशिष्ट क्षेत्र की स्वयत्तता की मांग को दर्शाती है। इसके पीछे अधिकतम् आर्थिक कारक ही रहे हैं जैसे विकास की धीमी गति या विकास का न होना। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उत्तर प्रदेश के अंदर ही बुंन्देलखण्ड को लेकर उठ रही मांग है। उनका यह मानना है कि जब तक वे अपने क्षेत्र को स्वायत्त न कर ले अर्थात अपनी व्यवस्था को स्वयं न संचालित करेंगे तब तक उनका विकास नहीं हो सकता क्योंकि उनकी समस्याओं का समाधान कोई और कैसे कर सकता है जब तक कि उसे उस समस्या का कोई बोध ही न हो। कुछ मामलों में तो राजनीतिक कारक भी ऐसी मांगों को उठाने के जिम्मेदार होते हैं। कुछ राजनीतिक नेता अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए निरन्तर ऐसी मांगे उठाते हैं।

25.4.2.7. भूमि–पुत्र सिद्धान्त

भूमि–पुत्र या धरती के पुत्र का सिद्धान्त भी बहुत हद तक क्षेत्रवाद का कारण बना है। भारत के संविधान में भी किसी राज्य के निवासी होने का अतिरिक्त लाभ व्यक्ति को दिया गया है और विशेष रुप से रोजगार के संदर्भ में। इसलिए विभिन्न राज्यों में तो इस संदर्भ में कानून भी बना दिए गए हैं कि राज्य के निवासी को कुछ विशेष छूट प्रदान की जाएगी। संविधान ने तो जम्मू और कश्मीर, नागालैंड, सिक्किम के लिए प्रावधान किए ही हैं, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात ने तो स्वयं अपने कानून में इसका उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का निरन्तर प्रसार होता जा रहा है। यहाँ तक कि पढ़े–लिखे तथा बुद्धिजीवी वर्ग में भी इस प्रवृत्ति का जन्म हो रहा है। इस प्रकार के नारे दिए जाते हैं कि महाराष्ट्र महाराष्ट्रीयों के लिए, पंजाब पंजाबियों के लिए और उड़ीसा उड़िया के लिए। ऐसी मांगें की जाती हैं कि हमारे राज्य में सभी अवसरों का लाभ केवल हमें ही मिलना चाहिए। जैसा कि हाल ही में महाराष्ट्र में उत्तर भारतीयों के लिए किया

गया। उन्हे वहाँ से भगाने और प्रताड़ित करने का भी प्रयास किया गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति देश की एकता और अखण्डता के लिए घातक सिद्ध को रही है। यदि प्रत्येक राज्य में यह प्रवृत्ति आगई तो एक दिन हर नागरिक केवल अपने राज्य तक ही सिमट के रह जाएगा। ऐसे में भारतीय होने का एहसास ही नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति एक राज्य का ही नागरिक बन कर रह जाएगा। जबकि ऐसी प्रवृत्ति से बचने के लिए ही भारत में अमेरिका की भाँति दोहरी नागरिकता का सिद्धान्त नहीं लाया गया।

इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर मणिपुर, मिजोरम, नागालैण्ड आदि राज्यों में असहिष्णुता के भाव पैदा हो रहे हैं और वे तो अतिरेक में जाते हुए भारत से अलग होने की मांग पर आ पहुँचे हैं जो एक बहुत बड़ी समस्या है। इससे निपटने के लिए भारत सरकार ने एक तरफ जहाँ विकास की गति को तेज कर इन्हे संतुष्ट करने का प्रयास किया है वहीं दूसरी ओर सैन्य बलों को सशक्त कर इन प्रवृत्तियों को बढ़ने से रोकने का प्रयास भी किया है।

बोध प्रश्न 2

नोटः 1. अपने उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें तथा इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. क्षेत्रवाद के उदय के कारणों पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....
....
....

2. भारत में भाषाई आंदोलन किस प्रकार क्षेत्रीय आंदोलनों को प्रभावित कर रहा है?

....
....
....
....
....

25.6 सारांश

भारत में भाषा–संबंधी विवाद तथा क्षेत्रवाद ने कई विभेदकारी समस्याओं को जन्म दिया है। भाषाई विवाद का प्रभाव तो कुछ कम होता दिखता है जो कि एक सकारात्मक दिशा की ओर इशारा करता है, परन्तु क्षेत्रवाद की समस्या आज भी वैसे ही व्यापक और गंभीर बन हुई है। इतना ही नहीं बल्कि इस प्रवृत्ति में निरन्तर और भी वृद्धि देखी जा सकती है। भाषाई आधार पर कुछ राज्यों के निर्माण और भारत में गैर–हिन्दी भाषी लोगों को संतुष्ट रखने के लिए अंग्रेजी के निर्बाध रुप से प्रयोग तथा त्रि–भाषीय फार्मूले ने तो भाषाई विवाद को थोड़ा कमज़ोर कर दिया है। परन्तु क्षेत्रवाद की समस्या का समाधान इतना सरल नहीं है क्योंकि जब तक भारत में संतुलित विकास को बढ़ावा नहीं दिया जाएगा तब तक

इस प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। समस्या यह है कि इस प्रवृत्ति का निरन्तर राजनीतिक दलों तथा नेताओं द्वारा राजनीतिकरण करने का प्रयास किया जाता रहा है, जिससे एक क्षेत्र विशेष के लोग निरन्तर अपनी मांगों को पूरा किए जाने का दबाव डालते रहते हैं। क्षेत्रीय नेताओं ने तो कभी अनशन का सहारा लेकर, कभी रैली और कभी हिंसात्मक कार्यवाही करके इस प्रवृत्ति को और भी बढ़ाया है। विकास की दृष्टि से राज्यों का पुनर्गठन एक बात है परन्तु राजनीतिक दबाव में आकर राज्यों का पुनर्गठन करना समस्याओं का समाधान नहीं करता बल्कि इस आग को हवा देने का काम करता है। हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि भारत की एकता और अखण्डता को चोट पहुँचाने के हर प्रयास को केवल सख्ती से नहीं बल्कि नरमी से भी निपटने का प्रयास करना होगा।

25.7 शब्दावली

भूमि–पुत्र सिद्धान्त– किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोग जो वहाँ के मूल निवासी हों, अपने क्षेत्र में किसी अन्य क्षेत्र या प्रांत के लोगों के आने तथा वहाँ रहकर नौकरी या व्यवसाय करने का विरोध करते हैं। उनका यह मानना होता है कि यह क्षेत्र केवल उनके लिए है और वहाँ उपलब्ध सभी सुविधाएं और अवसर केवल उनके लिए हैं।

स्वायत्तता– किसी राज्य या क्षेत्र विशेष की वह मांग जिसके आधार पर उस राज्य या क्षेत्र को अपने आंतरिक मामलों में फैसला लेने का पूर्ण अधिकार हो जाए।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नारंग, ए0एस0, ''इण्डियन गॉवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स'', गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000

ब्रास, पॉल0आर0, ''रिलीजियन, लैंग्वेज एण्ड पॉलिटिक्स इन नॉर्थ इण्डिया'', विकास, नई दिल्ली, 1975

कुमार, अशुतोष, ''रीथिंकिंग स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया– रिजन्स विदइन रिजन्स'', रॉटलेग, नई दिल्ली, 2011

ब्रास, पॉल0आर0, ''द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेंडेन्स'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2001

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

हसन, जोया, ''डोमिनेन्स एण्ड मोबलाईजेशन– रुरल पॉलिटिक्स इन वेस्टर्न उत्तर प्रदेश, 1930–1980'', सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

1. भारत में भाषायी आंदोलन का प्रमुख कारण भाषाई विविधता तथा राजनीतिक नेताओं का निहित स्वार्थ है।

2. 1960 में बम्बई को महाराष्ट्र और गुजरात में पुनर्गठित किया गया। सन् 1962 में नागालैंड का निर्माण किया गया जो असम को विभाजित कर बनाया गया तथा 1966 में पंजाब को विभाजित कर पंजाब और हरियाणा राज्य का निर्माण हुआ।

बोध प्रश्न 2

1. भारत में क्षेत्रवाद की समस्या का प्रादुर्भाव स्वतंत्रता के बाद ही हो जाती है जिसके पीछे विभिन्न कारण हैं जैसे आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, भैगोलिक, सांस्कृतिक और भाषाई कारक।

2. भारत में क्षेत्रवाद के विभिन्न रुप देखने को मिलते हैं जिनमें से सबसे पुराना तथा महत्वपूर्ण भाषाई क्षेत्रवाद है। भाषाई कारक तीन रुप क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है— भाषाई आधार पर केन्द्र को राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए विवश करना तथा दबाव बनाना। हिन्दी को एक मात्र राज—भाषा के रुप में मान्यता दिए जाने का विरोध करना तथा क्षेत्रीय भाषाओं को भी हिन्दी के बराबर महत्व देना। राज्यों में रह रहे भाषाई अल्पसंख्यकों के प्रति आक्रामक रवैया अपनाना।

इकाई 26

भारत में विकास का राजनीतिक अर्थशास्त्र

इकाई की रुपरेखा

26.0 **उद्देश्य**

26.1 **प्रस्तावना**

26.2 **आर्थिक सूचक**

26.3 **सामाजिक सूचक**

26.4 **राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत**

26.4.1 विकास नीति का चयन

26.5 **विकास के चरण**

26.5.1 प्रथम चरण

26.5.2 द्वितीय चरण

26.5.3 तृतीय चरण

26.6 **सारांश**

26.7 **कुछ उपयोगी पुस्तकें**

26.8 **शब्दावली**

26.9 **बोध प्रश्नों के उत्तर**

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत के विकास के राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में बताया गया है। इस इकाई का पढ़ने के बाद आप

- विकास की अवधारणा की परिभाषा कर सकेंगे
- भारत में विकास के विभिन्न चरणों को जान सकेंगे
- भारत में भिन्न क्षेत्रों के विकास को जान सकेंगे

26.1 प्रस्तावना

जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व का दूसरा सबसे बड़ा देश है। यहाँ पर एक अरब से अधिक लोग निवास करते है। इतनी बड़ी जनसंख्या वाले देश में भयकंर गरीब भी देखने को मिलते है। भारत की गरीबी की जड़े औनिवेशिक इतिहास में पाई जाती है। भारत ने एक लम्बे जन संघर्ष के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त की।

26.2 आर्थिक सूचक

विकास केवल एक आर्थिक प्रश्न नहीं है। वर्तमान समय में कोई देश विकसित है या नहीं यह तय करने के कई मापदण्ड तैयार किये गये है। यदि विकास की आर्थिक परिभाषा को देखें तो सामान्यतः वे देश, जिनकी वास्तविक प्रति व्यक्ति आय संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय की एक–चौथाई से कम है, उन्हें विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के रुप में सम्बोधित किया गया है। भारत को अभी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की श्रेणी में रखा जाता है। इसके अपने कुछ विशेषताएँ है जो इस प्रकार है।

(क) निम्न प्रति व्यक्ति आय, विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की विशिष्टता है। 2010 में भारत की प्रति व्यक्ति आय 1270 डालर थी। जो कि विश्व की निम्न आयों में से है।

(ख) कार्यकारी जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग कृषि में लगा रहता है। भारत में 2010 में कार्यकारी जनसंख्या का लगभग 58 प्रतिशत कृषि में लगा हुआ है और राष्ट्रीय आय में इसका योगदान लगभग 14 प्रतिशत था। विकसित देशों में कृषि पर निर्भता अपेक्षाकृत कम होती है।

(ग) भारत में बेरोजगारी एक बड़ी समस्या है। भारत की बड़ी जनसंख्या के कारण यहाँ श्रम प्रचुर है। इसके परिणाम स्वरुप समस्त कार्यकारी जनसंख्या को लाभकारी रोज़गार दिलाना बहुत कठिन होता है। विकसित देशों में भी बेरोज़गारी होती है परन्तु वह स्थाई नहीं होती है समर्थ मांग के अभाव में हो बेरोज़गारी उत्पन्न होती है। जबकि भारत में इसका स्वरुप संरचनात्मक होता है।

26.3 समाजिक सूचक

विकास की इस परिभाषा में हाल के वर्षों में बड़ा बदलाव आया है। वर्तमान समय में केवल आय ही विकास का प्रतिमान नहीं है। विकास की अभिव्यक्ति कई सामाजिक सूचकों द्वारा भी होती है। जैसे प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग, प्रति हजार जनसंख्या के लिये डाक्टर, मोटर गाड़ियों, टेलीफोनों या टी0वी0 सेटो की मात्रा, बुनियादी जीवन स्तर, शिक्षा, आवास, प्रदूषण इत्यादि। विकास की यह अवधारणा लोगों के विकास को लेकर है।

इसे स्पष्ट करते हुये मानव विकास रिपोर्ट (1997), में उल्लेख किया ''आय केवल एक विकल्प है जो लोग प्राप्त करना चाहेंगे, चाहे यह बहुत है परन्तु यह उनके समग्र जीवन का सार नहीं है।'' विकास का उद्देश्य मानव विकास माना गया। मानव विकास को समझाते हुये इस रिपोर्ट में लिखा है, ''यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जनसामान्य के विकल्पों का विस्तार किया जाता है और इनके द्वारा उनके कल्याण के उन्नत स्तर को प्राप्त किया जाता है। यही मानव विकास की धारणा का मूल है।। ऐसे सिद्धान्त न तो सीमाबद्ध होते है और न ही स्थिर। परन्तु विकास के स्तर को दृष्टि में रखते हुये जनमानस के पास तीन विकल्प हैः एक लम्बा और स्वस्थ जीवन व्यतीत करना, ज्ञान प्राप्त करना और अच्छा जीवन–स्तर प्राप्त करने के लिये आवश्यक संसाधनों तक अपनी पहुँच बढ़ाना। कई और विकल्प भी है जिन्हें लोग महत्वपूर्ण मानते हैं। इनमें उल्लेखनीय है राजनैतिक, आर्थिक

और सामाजिक स्वतंत्रता से सृजनात्मक और उत्पादक बनने के अवसर और स्वाभिमान एवं गारंटीकृत मानव अधिकारों का लाभ उठाना।''

यू0एन0डी0पी0 ने मानव विकास के सूचक तैयार किये गये हैं। मानव विकास तीन मूल आयामों के अनुसार देखा जाता है। ये है –

1. एक लम्बे और स्वस्थ्य जीवन के माप के लिये जन्म पर जीवन की प्रत्याशा।
2. ज्ञान जिसके माप के लिये बालिग साक्षरता दर और समग्र, प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक कुल नामांकन अनुपात को आंका जाता है।
3. प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद इन सूचको के आधार पर यू0एन0डी0पी0 अपनी रिपोर्ट तैयार करना है। मानव विकार रिपोर्ट 2011 में 182 देशों के आंकड़े एकत्र किये गये। इस सूची में भारत का स्थान 134वाँ था। नॉरवे पहले अमेरिका चौथे और नाइजर अंतिम स्थान पर था। यह एक बहुत ही भारत की है। भारत एक विशाल देश हैं यहाँ पर कुछ राज्यों की तुलना मध्यम आकार वाले देशों के साथ की जा सकती है। भारत में राज्यों के लिये भी मानव विकास सूचक तैयार किये गये है। ये है (1) जीवन की प्रत्याशा सूचक (2) प्रतिव्यक्ति आय अर्थात प्रतिव्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पाद सूचक (3) शिक्षा सूचक जिसका आधार साक्षरता दर और स्कूल नामंकन अनुपात है (4) जीवन की गुणवत्ता, जिसमें पेयजल तक पहुँच, बिजली का कनेक्शन पूरे वर्ष के दौरान प्रतिदिन दो वक्त भरपेट भोजन, पक्के मकान में रिहायश और सरकारी अस्पातालों की उपलब्धि (5) गरीबी के नीचे की जनसंख्या और (6) नगरीकरण

भारत के अल्पविकास का कारण भारत की उपनिवेशिक धरोहर में मिलता है। भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित औनिवेशिक शासन ने भारत की आर्थिक दुर्दशा कर दी। अंग्रेजों ने खुले–आम भारतीय संपत्ति के दोहन की प्रक्रिया को अपनाया। एक तरफा मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया जिससे भारत की पूंजी आसानी से विदेश जा सके। विऔद्योगिकरण ने भारत की उद्योग को स्थापित नहीं होने दिया। भारत को कच्चे माल के स्त्रोत के रुप में बदलते हुये ब्रिटिश शासन ने भारत को अपने उत्पादों की एक बडी मण्डी बना दिया। बड़ी संख्या में लोग काम के अभाव में शहर से गांव की ओर पलायन करने लगे। कृषि ही रोज़गार का साधन रह गया था। इससे भूमि पर दबाव बढ़ने लगा जिसका सीधा असर हमें अर्थव्यवस्था पर दिखाई देने लगा। भारत में भयंकर गरीबी, भुखमरी और अभाव फैलने लगा। आज भी भारत इन समस्याओं से उबरने का प्रयास कर रहा है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) विकास के सामाजिक सूचक क्या होते हैं?

....

....

....

....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) सन् 2010 में भारत की प्रति व्यक्ति आय कितनी थी?

(ख) मानव विकास सूचक के मूल आधारो की संख्या कितनी है?

(ग) मानव विकास सूचक किस संस्था के द्वारा तैयार किये गये हैं?

3) मानव विकास क्या होता है?

....

....

....

....

26.4 राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत

राष्ट्रीय आंदोलन ने औपनिवेशिक शासन की कमियों को सामने उजागर किया। इस दौर के विभिन्न नेताओं ने ब्रिटिश शासन की कमजोरियों को सामने लाने का काम किया। इसी के साथ कई राष्ट्रवादियों ने विकास के विभिन्न सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत किया। इस कड़ी में सबसे प्रमुख नाम महात्मा गांधी का है। महात्मा गांधी ने बड़े स्तर पर भूमि सुधार की मांग की तथा गांधी ने न्यासता का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया। उन्होंने नमक पर कर को समाप्त करने की मांग की तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुधारने का भी विचार प्रस्तुत किया।

वर्ष 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कराची अधिवेषण ऐतिहासिक था। पहली बार कांग्रेस ने ऐसा प्रस्ताव पारित किया था जिसमें स्पष्ट रुप से उसे सामाजिक एवं आर्थिक नीति को प्रस्तुत किया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया कि कामगारों को उचित वेतन मिलना चाहिये। इस प्रस्ताव में कहा गया कि कामगारों को उचित वेतन मिलना चाहिये तथा उनके काम करने का समय निर्धारित होना चाहिये। बाल श्रम को प्रतिबंधित किया जाना चाहिये। किसानों तथा मजदूरों को संघ बनाने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। राज्य को प्रमुख उद्‌योगों को स्वयं संचालित करना चाहिये। रेल, परिवहन जैसी सुविधायें राज्य द्वारा नियंत्रित होनी चाहिये।

वर्ष 1917 की रुस की क्रान्ति ने कई भारतीय नेताओं को समाजवाद की ओर आकर्षित किया। 1934 में सोवियत संघ की पहली पंचवर्षीय योनजा की सफलता ने भारत में समाजवाद के प्रति लोगों के उत्साह को और जगाया। इसके परिणाम स्वरुप भारत में समाजवाद धीरे–धीरे अपनी जड़े जमाने लगा। 1928 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में जवाहर लाल नेहरु ने भारत तथा विश्व की समस्या का समाधान, समाजवाद को बताया। इसके पश्चात् 1934 में कांग्रेस के अंदर ही कांग्रेस सोशलेस्ट पार्टी का गठन किया गया। राष्ट्रीय आंदोलन के इसी दौर की विरासत नियोजन है। सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस के अध्यक्ष बनते ही राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया। स्वतंत्रता के पश्चात् भी राष्ट्रीय आन्दोलन की इस विरासत की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

26.4.1 विकास नीति का चयन

विकास नीति की रुपरेखा का वर्णन भारतीय संविधान के भाग चार के नीति निदेशक तत्वों में किया गया है। भारतीय संविधान की उद्‌देशिका में शासन

व्यवस्था के लिये कुछ लक्ष्यों को निर्धारित किया गया है। प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। आर्थिक न्याय के प्रावधान विस्तापूर्वक नीति निदेशक सिद्धान्तों में दिये गये हैं। सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिये राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्तों के अनुच्छेद 38 और 39 में विशेष रुप से निर्देश दिये गये है। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। इसी प्रकार अनुच्छेद 39 में संपत्ति के न्यायपूर्ण वितरण, उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के हित के लिये प्रयोग, समान कार्य के लिये समान वेतन, स्त्रियों और बच्चों के हितों के संरक्षण आदि के लिये विस्तृत प्रावधान किये गये है। इसके साथ राज्य को यह भी निर्देश दिया गया कि वह नागरिकों को काम पाने, शिक्षा पाने और बेकारी, बुढ़ापे तथा बीमारी आदि में लोक सहायता देने का प्रावधान करगा। मज़दूरों के लिये काम की उचित परिस्थिति के निर्माण का भी निर्देश है। इसके नीति निदेशक सिद्धान्तों स्वतंत्रता भारत के मार्गदर्शक के रुप में है। इसमें यह भी कहा गया राज्य कि राज्य श्रमिकों को काम, निर्वाह, मज़दूरी, शिष्ट जीवन, स्तर, तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपयोग, सुनिश्चित करने वाली कामों की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त करने का प्रयास करेगा। राज्य को नागरिकों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य को सुधारने के लिये भी निर्देश दिये गये है। नीति निदेशक सिद्धान्तों द्वारा भारत के संविधान ने सामाजिक आर्थिक विकास की रुपरेखा तैयार कर दी। ये सरकार पर छोड़ दिया गया कि वह इन निर्देशों को किस प्रकार लागू करना चाहती है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में लोकतंत्र को अपनाया गया। भारत के सामने चुनौती केवल राजनीतिक लोकतंत्र ही नहीं बल्कि आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना भी करना था। संविधान के उल्लिखित नीति निदेशक सिद्धान्तों को लागू विभिन्न प्रयास किये जा रहे हैं स्वतंत्रता के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सबसे बड़े राजनीतिक दल के रुप में उभरा। कांग्रेस सरकार ने भारत के विकास के लिए कई कदम उठाए।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) नीति निदेशक सिद्धांतो में विकास की कैसी रुप रेखा तैयार की है।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) किसने न्यासता का सिद्धान्त दिया था?

(ख) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नियोजन समीति का गठन किसने किया था?

(ग) नीति निदेशक सिद्धांत के किस अनुच्छेद में समान कार्य के लिये समान वेतन की बात कही गई है?

3) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन के बारे में बताईयें?

....

....

....

26.5 विकास नीति के चरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि वह किस प्रकार की अर्थव्यवस्था को अपनाये। राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारत के भविष्य के लिये कुछ रुपरेखा तैयार कि थी। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया। मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ है निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र का सह–अस्तित्व। भारत में, सरकार ने निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों की पदोन्नति के लिये क्षेत्र निर्धारण दिया है। इस अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) की महत्वपूर्ण स्थिति थी। यह अर्थव्यवस्था एक नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned economy) थी। इस नियोजित अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख अंग नियोजन था स्वतंत्रता के बाद के विकास को इन तीन चरण में देखते है।

26.5.1 आर्थिक विकास का पहला चरण (1947–1967)

विकास की यह प्रारम्भिक अवस्था थी। इस चरण में राजनीतिक सामंजस्य द्वारा विकास के विषय में निर्णय लिये गये। यह नेहरु का युग था। इस चरण में नेहरु के विचारों का प्रभाव अर्थव्यवस्था पर दिखाई देता है। उपनिवेशवाद ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पहले ही खोखला कर दिया था स्वतंत्रता के साथ भारत को विभाजन का भी पीड़ा सहन करनी पड़ी। इसी के साथ भारत में भयंकर गरीबी, बेरोजगारी और अशिक्षा व्याप्त थी। भारत के कृषि और उद्योग सदियों के उपनिवेश के कारण बर्बाद हो चुके थे। इस अवस्था में विकास शब्द ही अपने आप में एक चुनौती था। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरु के नेतृत्व में विकास को योजनाबद्ध रुप से अपनाया गया।

इन परिस्थितियों में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई थी। राज्य को राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतंत्र लाने के लिये महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी। नेहरु ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त को अपनाया। इस अवस्था में महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे हथियार एवं गोलाबारुद, आणविक ऊर्जा, रेलपथ, खनिज, पोत निर्माण, टेलीफोन, तार, विमानों के निर्माण जैसे क्षेत्रों पर सरकार का एकाधिकार स्थापित किया गया। निजी क्षेत्र को बिना राष्ट्रीयकरण के काम करने की अनुमति दी गई। बड़े व्यापारों को तोड़ा नहीं गया और नये व्यापारों को राष्ट्रीयकरण से मुक्त रखा गया।

इस अवस्था में विकास की जो रणनीति अपनाई गई उसमें नियोजन का स्थान प्रमुख था। वर्ष 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई। योजना

आयोग का उद्देश्य था ''विकास की ऐसी प्रक्रिया का सूत्रपात करना जो जीवन स्तर को ऊँचा करे और जनता के लिये अधिक वैभवपूर्ण एवं बहुमुखी जीवन के लिये द्वार खोले।'' योजना आयोग के कई कार्य सुनिश्चित किये गये जिनमें प्रमुख विकास की बाधाओं की ओर संकेत करना तथा योजना की सफलता के लिये वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में आवश्यक शर्तों को निश्चित करना। योजना आयोग द्वारा तैयार की गई पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से तीव्र विकास का प्रयास किया गया।

इस अवस्था में तीन पंचवर्षीय योजनायें आई। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि, परिवहन तथा संचार के विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई इस योजना में लोगों के जीवन स्तर को बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया। शरणार्थी पुर्नवास और खाद्यान्न की कम से कम अवधि में आत्मनिर्भता प्राप्त करना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956–61) को नेहरु महालोनोबिस योजना भी कहते है क्योंकि इसमें नेहरु के दृष्टिकोण के अपनाया गया था तथा महालोनोबिस इसके मुख्य निर्मता थे। इस योजना में भारी तथा मूल उद्योगों को बढ़ावा दिया गया। इस योजना के अंतर्गत इस्पात, धातु, रसायन जैसे भारी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किये गये। तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66) विकास की एक महत्वाकांक्षी योजना थी। इस योजना का लक्ष्य आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की स्थापना करना था। 1962 में चीन तथा 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध ने इस योजना को प्रभावित किया।

स्वतंत्रता के समय कृषि क्षेत्र अल्प विकसित क्षेत्र था। नेहरु के नेतृत्व में स्वतंत्रता के तुरन्त पश्चात ही भूमि सुधार कार्यक्रम अपनाया गया। औपनिवेशिक दौर में भूमि स्वामित्व कुछ हाथों में केन्द्रित था और किसानों का उत्पीड़न जमींदार और महाजन दोनों करते थे। यह भूमि सुधार का उद्देश्य संपदा की असमानताओं को दूर करना और भूमि का पुनर्वितरण लघु किसानों एवं भूमिहीन श्रमिकों में करना। इसी के साथ कृषि नीति में खेती योग्य भूमि के विस्तार, सड़कों एवं मौलिक ढांचे के निर्माण तकनीकी जानकारी का अनुसंधान एवं वितरण जैसे प्रावधान रखे गये। इस दौर में अपनाएँ गये भूमि एवं कृषि सुधारों का सकारात्मक प्रभाव दिखाई देने लगा। सिंचाई ऊर्जा कृषि अनुसंधान के क्षेत्रों में हुई उन्नति का प्रभाव कृषि पर पड़ने लगा। भारतीय कृषि इस दौर में लगभग 3 प्रतिशत की दर से बढ़ी। इस दौर में हुई उन्नति भारत को खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म निर्भर बनाने के लिए पर्याप्त नहीं थी। भारत को इस दौर में विदेशों से खाद्यय सामग्री आयात करनी पड़ रही थी।

इस चरण में कृषि की तुलना में उद्योगों ने बेहतर प्रदर्शन किया। वित्तीय पंचवर्षीय योजना के बाद उद्योगों को बढ़ावा मिला। इस चरण में औद्योगीकरण में राज्य की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई थी। 1956 में औद्योगिक नीति को अपनाया गया। इस नीति में निजी क्षेत्र के प्रति न्यायपूर्ण और भेदभाव रहित व्यवहार करने की बात कही गई।

इस चरण की उपलब्ध्यिाँ महत्वपूर्ण है उद्योग तथा कृषि दोनों ही क्षेत्रों में भारत ने अच्छा विकास किया। भूमि सुधार ने भारत के हजारों भूमिहीनों को सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया पारंपरिक उद्योगों के साथ नये उद्योग भी अस्तित्व में आये। कई विकास परियोजनायें प्रारम्भ की गई। नेहरु ने इन बांधों और परियोजनाओं को आधुनिक भारत का मंदिर कहा। यह नेहरु की सोच को परिलक्षित करता है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस चरण ने आधुनिक भारत की नींव रखी।

इस चरण की अपनी कुछ असफलतायें भी है। इस दौर में विकास अपेक्षा से कम रहा। भ्रष्टाचार और लालफीता शही इस चरण की कमियाँ रही। परन्तु सफलताओं की तुलना में ये कमियाँ बहुत छोटी है।

26.5.2 आर्थिक विकास का दूसरा चरण (1967–1990)

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग दो दशक पश्चात् भारत में विकास का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोण के यह चरण पहले चरण से भिन्न था। राजनीतिक क्षेत्र की समरुपता समाप्त हो गई थी। नेहरु के युग का अंत हो चुका तथा और इस दौर की राजनीतिक गतिविधियों का सीधा प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा था। 1967 में हुये चुनाव के परिणाम कांग्रेस के पक्ष में नहीं थे। कई राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारें आई। कांग्रेस के अंदर की कलह भी उभर रही थी। अंतता 1969 में कांग्रेस विभाजन हो गया। 1970 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आम चुनावों की घोषणा कर दी। इन चुनाओं में इन्दिरा गांधी ने ''गरीबी हटाओ'' का नारा दिया और बड़े सामाजिक और आर्थिक बदलाव लाने की भी घोषणा की। कांग्रेस का प्रभुत्व कम होने लगा था। भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयकरण और ग्रामीणीकरण युग का आरंभ हुआ। जाति का प्रभाव राजनीति पर स्पष्ट रुप से देखा जाने लगा। इन परिवर्ततनों के दूरगामी प्रभाव विकास एवं अर्थव्यवस्था पर दिखाई देने लगे।

पंचवर्षीय योजनाओं में भी विकास के प्रति बदलते दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है। इस चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–74) में अपने सामने दो मुख्य उद्देश्य रखे, स्थिरता के साथ विकास और आत्मनिर्भरता। इस योजना ने राष्ट्रीय आय की 5.5 प्रतिशत वार्षिक औसत वृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा और समाज के कमजोर वर्गो के लिए राष्ट्रीय न्यूनतम उपलब्ध कराने का निश्चय कियां इस उद्देश्य को बाद में सामाजिक न्याय के साथ विकास और ''गरीबी हटाओ'' की संज्ञा दी गयी। अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व को देखते हुये कृषि विकास को प्राथमिकता दी गई। इस योजना से औद्योगिक नीति में भी बदलाव किये गये। उद्योगों को केवल एक ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा गया उनकी स्थापना कई क्षेत्रों में की गई जिससे सभी क्षेत्रों का संतुलित विकास हो सके। पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974–79) का उद्देश्य ''गरीबी हटाओ'' और सामाजिक न्याय के साथ विकास था। घोर निर्धनता का कारण बेरोजगारी और कृषि क्षेत्र पर अत्यधिक निर्भरता बनाया गया। इस योजना के अंतर्गत कई लोक कल्याणकारी योजनायें भी आरम्भ की गई। 1978 में जनता पार्टी की सरकार ने चार वर्षों के पश्चात ही पांचवी योजना को समाप्त कर दिया।

वर्ष 1977 में पहली बार जनता पार्टी की गैर–कांग्रेसी सरकार सत्ता में आई। जनता सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। नयी औद्योगिक नीति का मुख्य बल लघु तथा कुटीय उद्योगों को प्रभावी रुप में प्रोत्साहित करने में था जिससे वे ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे कस्बों में बहुत अधिक फैल जाए। इससे पहले की औद्योगिक नीति में भारी उद्योग को महत्व प्रदान किया गया था। सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योग को विशेष महत्व दिया गया है,

छठी पंचवर्षीय योजना (1980–85) में कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र के आधारभूत ढांचे में सुधार की बात की गई। ''गरीबी हटाओ'' हटाने के लिये विभिन्न योजनायें बनाई गई। जिससे वह स्वयं रोज़गार अपना सके और कुछ अवस्था में गरीबों को रोज़गार देने की भी बात कही गई। इस योजना के अंतर्गत राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार योजना जैसे कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। सातवीं पंचवर्षीय योजना

(1985–90) में पहले की योजनाओं का महत्व बिन्दु बदल दिया। अनावश्यक समझे जाने वाले कई क्षेत्रों में सरकारी हस्तक्षेप कम कर दिया गया और कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र में बड़े बदलाव किये गये।

इस दौर में कृषि क्षेत्र में बड़े बदलाव आये। पारम्परिक कृषि तकनीकी का स्थान आधुनिक तकनीक ने ले लिया। इसके परिणाम स्वरुप भारत में एक कृषि क्रान्ति आरम्भ हो गई। अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि मशीनरी, विस्तृत सिंचाई और विद्ययुत शक्ति ने समग्र रुप से भारत में हरित क्रांति को जन्म दिया। इसी हरित क्रांति का परिणाम था की भारत खाद्यान्न के मामले में आत्म निर्भर बना।

1980 में सरकार में परिवर्तन आया कांग्रेस एक बार फिर सत्ता में आई। इसी वर्ष कांग्रेस ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति में 1956 की औद्योगिक नीति को आधार माना गया। इस नीति के तीन उद्देश्य थे आधुनिकीकरण विस्तार और पिछड़े क्षेत्रों का विकास। इस नीति में आर्थिक संघवाद की धारणा को महत्व प्रदान किया गया था निजी क्षेत्र के साथ समन्वय स्थापित करने पर बल दिया।

इस चरण में अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिये कई क्रांतिकारी कदम उठाए गये। 1969 में कांग्रेस सरकार ने 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार बैंकिक क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र के बैंको का लगभग एकाधिकार हो गया। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सरकारी क्षेत्र के बैंक विकास प्रयासों का मुख्य उपकरण बन गए। भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का प्रयोग अपने गरीबी उन्मूलन और गरीबी को कम करने की योजनाओं में किया। विकास के इसी चरण में बीमा तथा कोयल का राष्ट्रीयकरण किया गया।

भारत के विकास में इस दौर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस चरण में अपनाई गई नीतियों के कारण ही भारत ने खाद्यान्न क्षेत्र में आत्मनिर्भता प्राप्त की। यह भारत के लिये एक बहुत बड़ी उपलब्धी थी। इसी प्रकार उद्योग तथा लोक कल्याण के क्षेत्रों में सराहनीय कदम उठाये गये। राजीव गांधी सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कुछ सुधार अपनाये और व्यवस्था को और सुधारने का प्रचार किया। 1991 से भारत में एक नया युग आरम्भ हुआ जिसने विकास की परिभाषा को बदल दिया।

26.5.3 आर्थिक विकास का तीसरा चरण (1991 से अब तक)

वर्ष 1991 आते–आते देश दिवालियापन के कगार पर आकर खड़ा हो गया। विदेशी दायित्व को निभाने के लिये देश के संरक्षित स्वर्ण कोष को विदेशों में गिरवी रखना पड़ा। अंततः वर्ष 1991 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पी0वी0 नरसिंह राव द्वारा नयी आर्थिक नीति प्रारम्भ की गई जिसमें उदारीकरण वैश्वीकरण, प्रतियोगिता और निःराष्ट्रीयकरण मूल तत्व के रुप में उभरे। नई आर्थिक विकास नीति को अपनाने के पीछे कई कारण थे। वर्ष 1991 तक शीत युद्ध समाप्त हो चुका था और भारत के बड़े अंर्तराष्ट्रीय सहयोगी सोवित संघ का अस्तित्व समाप्त हो चुका था। खाड़ी युद्ध के कारण तेल पदार्थों के मूल्य आसमान छूने लगे जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था ध्वस्त होने लगी। भारत को अपनी अर्थव्यवस्था को संभालने के लिये अंतराष्ट्रीय मुद्र कोष तथा विश्व बैंक से सहायता मांगी। इसके परिणाम स्वरुप भारतीय अर्थव्यवस्था में मूलभूत बदलाव आये। विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भारत को सहायता देना तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह

शर्त लगायी कि वह अपनी अर्थव्यवस्था में स्थिरता कायम करने का प्रयास करेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की यह शर्त थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था में एक संरचनात्मक पुनः समंजन हो। भारत की आर्थिक संरचना में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक था कि इसे एक नई औद्योगिक नीति द्वारा परिभाषित किया जाये।

वर्ष 1991 में नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। भारत में 1951 से चली आ रही लाइसेंस राज प्रणाली को समाप्त किया गया। भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिये भी कदम उठाये गये। सरकार ने अनारक्षण की नीति को अपनाया इस नीति में विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए भरसक प्रयास किये गये। 1991 में अपनाये गये आर्थिक सुधारों का एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के सरकारी हिस्से को बेचा जाता है।

अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार लाने के बाद भी भारत में योजना की भूमिका में कमी नहीं आई। वर्ष 1992 में आठवीं पंचवर्षीय योजना लागू की गई यह योजना उस समय आई जब भारत भारी आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा था। आठवीं योजना के प्रतिपादन में उन परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित किया गया की आम आदमी के जीवन की गुणवत्ता में सुधार आ सके इस योजना में जिन क्षेत्रों पर ध्यान दिया गया वे रोज़गार सृजन, बुनियादी ढांचा तथा संस्थागत निर्माण, पर्यटन प्रबंधन, मानव संसाधन विकास पंचायत राज, गैर सरकारी संगठन और विकेन्द्रीकरण। नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997—2002) का लक्ष्य वृद्धि के साथ सामाजिक न्याय और समानता प्राप्त करना था। इसमें कृषि और ग्राम विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी ताकि पर्याप्त उत्पादक रोज़गार कायम हो सके और गरीबी को दूर किया जा सके। इस योजना में सकल घरेलू उत्पाद (जी0डी0पी0) की 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष वृद्धि का लक्ष्य रखा क्योंकि आठवीं योजना के अंतर्गत 6.5 प्रतिशत की वृद्धि प्राप्त की जा चुकी थी। इसमें सभी के लिये और विशेषकर कमज़ोर वर्गो के लिए खाद्य और पौष्टिक सुरक्षा प्राप्त करने का निर्णय किया गया। इस योजना में विकास तथा पंचायती राज व्यवस्था को भी शामिल करने का प्रयास किया गया।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002—07) में विकास की रणनीति को पुनः परिभाषित किया गया। इस योजना को तैयार करते समय तक भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व काफी कम हो गया था। ये बिल्कुल स्पष्ट है कि भविष्य में औद्योगिक विकास अधिकतर निजी क्षेत्र के निष्पादन पर निर्भर करेगा इस कारण दसवीं पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य ऐसे वातावरण को तैयार करना है जो इस प्रकार के विकास के अनुकूल हो। इस योजना में यह माना गया कि विकास उद्देश्य केवल सकल घरेलू उत्पाद या प्रति व्यक्ति आय के रुप में ही परिभाषित नहीं किया जा सकता। विकास में खाद्य एवं अन्य सामाजिक सेवाओं की उपलब्धि, विशेषकर शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने के पानी और बुनियादी सफाई को भी शामिल किया जाता है। इस योजना में भारत में क्षेत्रीय संतुलन की स्थापना करने का प्रयास किया गया। यह योजना पूरी तरह से सफल नहीं हो पाई कृषि इस योजना की बड़ी विफलता रही। ग्याहरवीं पंचवर्षीय योनजा (2007—12) को उद्देश्य तीव्र और समावेशी विकास है। समावेशी विकास का अर्थ है जीवन की गुणवत्ता, विशेषकर अनुसूचित जातियों, जनजातियों अन्य पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों की विस्तृत रुप में दशा में सुधार को सुनिश्चित करना।

कृषि भारत के विकास का एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय तत्व है। वर्ष 2000 में भारत सरकार ने नई कृषि नीति की घोषणा की। इस नीति में ऐसे विकास पर बल दिया जो समता के साथ हो अर्थात् ऐसा विकास जो सभी क्षेत्रों और सभी किसानों

तक फैला हुआ है। ऐसे विकास की बात की गई जो मांग संचालित हो और जो आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करते हुये कृषि वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त होने वाले लाभों को अधिकतम करें।

इस दौर में उठाए गये विभिन्न आर्थिक सुधार कार्यक्रमों का प्रभाव भारत में दिखाई देने लगा। इस दौर में भारत की अर्थव्यवस्था विश्व की एक बड़ी अर्थव्यवस्था रुप में की जाने लगी। अपनी अर्थव्यवस्था में उदारीकरण लाने के साथ भारत सरकार ने लोक कल्याण के कार्यों को भी जारी रखा।

26.6 सारांश

विकास केवल एक आर्थिक प्रश्न नहीं है वर्तमान समय में विकास को केवल प्रतिव्यक्ति आय के रुप में परिभाषित नहीं किया जाता। इसके सामाजिक सूचक भी है जैसे प्रतिव्यक्ति कैलोरी उपभाग इत्यादि। भारत अल्पविकसित देशों की श्रेणी में आता है। भारत के इस अल्पविकास का कारण हमें भारत के औपनिवेशिक इतिहास में मिलता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती विकास की थी। भारत में हुये विकार को समझने के लिये हम इस काल को तीन भागों में बांट कर देखते हैं। पहला चरण 1947–67 तक लिया जा सकता है। यह युग नेहरु के युग के रुप में देखा जाता है। इस दौर में राज्य द्वारा विकास संचालित हुआ भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई, नियोजन पर बल दिया गया। विकास का दूसरा चरण 1967 से 1991 तक था। यह इन्दिरा गांधी के दौर था। बड़े पैमाने पर कृषि सुधारों को अपनाया गया। भारत में हरित क्रांति आई गरीबी को समाप्त करने के लिये विभिन्न योजनायें चलाई गई। 1991 से भारत में तीसरा दौर प्रारम्भ हुआ। अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय अनिश्चिताओं के बीच भारत ने बड़े आर्थिक सुधार कार्यक्रमों को अपनाया। इस दौर के प्रमुख तत्व उदारीकरण, वैश्वीकरण, प्रतियोगिता थे। वर्तमान समय में थी सुधारों का यह दौर चल रहा है। भारत स्वतंत्रता के समय से अब तक प्रगति कर चुका है परन्तु उसे अभी भी गरीबी, बेरोज़गारी और अशिक्षा जैसे समस्याओं को दूर करना होगा तभी वह एक विकसित राष्ट्र बन सकेगा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) पहली पंचवर्षीय योजना के बारे में आप क्या जानते है?

....

....

....

....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) ''गरीबी हटाओ'' नारा किसने दिया था?

(ख) किस वर्ष बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया था?

(ग) सातवीं पंचवर्षीय योजना की अवधी क्या थी?

3) भारत सरकार द्वारा वर्ष 2000 में घोषित नई कृषि नीति के विषय में बताईयें?

....

....

....

....

26.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3. दत्त, गौरव, एवं महाजन, अश्विनी (2013) : भारतीय अर्थव्यवस्था, नई दिल्ली, एस चन्द एण्ड कम्पनी

4. मिश्रा, एक.के. एवं पुरी, बी.के. (2001) : इंडियन ईकोनोमी, दिल्ली, हिमालया, पबलिशिंग हाऊस

5. चंन्द्रा, बिपन, मुखर्जी, मृदुला एवं, मुखर्जी, अदित्य (2003) : इंडिया आफटर इंडिपेनडेन्स (1947–2000), नई दिल्ली, पेंगुईन बुक्स

26.8 शब्दावली

पंचवर्षीय योजना : योजना आयोग द्वारा पाँच वर्षो के लिये बनाई गई योजना।

सार्वजनिक क्षेत्र : वे ईकाईयां जो सरकार द्वारा संचालित होती है।

26.9 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखे 26.3

2 (क) 1270

(ख) 3

(ग) यू.एन.डी.पी.

3) देखें उप–भाग 26.3

बोध प्रश्न 2

1) देखे उपभाग 26.4.1

2 (क) महात्मा गांधी

(ख) सुभाष चन्द्र बोस

(ग) अनुच्छेद 39

3) देखें उप–भाग 26.4

बोध प्रश्न 3

1) देखे 26.5.1

2) (क) इन्दिरा गांधी

(ख) 1969

(ग) 1985–90

3) देखें 26.5.3

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-102

भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 4

भारतीय राज्य की प्रवृत्ति : वैकल्पिक दृष्टिकोण

इकाई – 27 **171**

मार्क्सवादी दृष्टिकोण

इकाई – 28 **183**

उदारवादी दृष्टिकोण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक / परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीति विज्ञान विभाग 3 / 184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई 27

भारतीय राज्य की प्रकृतिः मार्क्सवादी दृष्टिकोण

इकाई की रुपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 मार्क्सवादी विचारधाराः मूल अवधारणा

27.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण में राज्य की भूमिका

27.4 भारतीय राज्यः मार्क्सवादी दृष्टिकोण

27.5 भारतीय मार्क्सवादी पार्टी

27.6 भारतीय राज्य का चरित्र

27.7 सारांश

27.8 शब्दावली

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

यह इकाई भारतीय राज्य के चरित्र की मार्क्सवादी व्याख्या करने का प्रयास करेगी। इस इकाई के अध्ययन से आपः

- राजनीति विज्ञान में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की व्याख्या कर सकेंगे।
- मार्क्सवाद के अनुसार राज्य की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- भारतीय राज्य को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझ सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

किसी भी राज्य की प्रकृति के अध्ययन में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि संविधान में उल्लिखत प्रावधानों के आधार पर ही राज्यों की प्रकृति को समझने का दावा करना एक बहुत बड़ी भूल होगी। इसलिए संस्थागत अध्ययनों से परे हट कर हम यर्थाथ की राजीनति पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। भारतीय राज्य की प्रकृति को समझाने के लिए मुख्य रुप से दो अलग–अलग दृष्टिकोणों को अपनाया जाता है– पहला मार्क्सवादी दृष्टिकोण तथा दूसरा उदारवादी दृष्टिकोण। इस इकाई में भारतीय राज्य के चरित्र के संदर्भ में हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपना केन्द्र–बिन्दु बनाकर उस पर प्रकाश डालेंगे। इसके लिए सर्वप्रथम यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है? राज्य के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का क्या मानना है? एवं इस विचारधारा ने किस प्रकार भारतीय राज्य को परिभाषित किया है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर ढूँढते हुए हम भारतीय राज्य की

प्रकृति का मार्क्सवादी मूल्यांकन करेंगे। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में भी कई प्रकार की भिन्नताएँ देखी जा सकती हैं जिनका मुल्यांकन भी किया जाएगा और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बृहद रुप में जानने का प्रयास भी किया जाएगा। इसी क्रम में भारतीय मार्क्सवादी पार्टीयों द्वारा भारतीय राज्य की विवेचना पर भी प्रकाश डाला जाएगा और अंततः भारतीय राज्य के चरित्र का वर्णन किया जाएगा।

27.2 मार्क्सवादी विचारधाराः मूल अवधारणा

मार्क्सवादी विचारधारा का उदय पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध एक विचारधारा के रुप में हुआ। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से भी जाना जाता है। इसकी शुरुआत करने का श्रेय मार्क्स को ही जाता है जिन्हे वैज्ञानिक समाजवाद का जनक भी कहा जाता है। हालाकि मार्क्सवाद के मूल विचार समाजवाद से बहुत मिलते–जुलते हैं परन्तु समाजवाद को एक क्रांतिकारी रुप प्रदान करने तथा इसे वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का काम मार्क्सवाद ने किया। मार्क्सवाद पूँजीवादी व्यवस्था के अर्न्तगत शोषण को दर्शाने का तथा क्रांतिकारी तरीकों के प्रयोग से समाज के लोगों को शोषण से बचाने का एक प्रयास है।

इस विचारधारा के अंर्तगत समाज को दो वर्गों में विभाजित करके देखा जाता है–पहला **बुर्जुआ वर्ग** और दूसरा **सर्वहारा वर्ग**। बुर्जुआ वर्ग समाज का वह वर्ग है जिसके पास आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियाँ केन्द्रित होती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में इसे पूँजीपति वर्ग के रुप में देखा जा सकता है। सर्वहारा वर्ग समाज का वह वर्ग है जिसके पास न तो आर्थिक शक्ति है और न ही राजनीतिक और सामाजिक शक्ति। यह वर्ग शोषित वर्ग है जिसका बुर्जुआ वर्ग द्वारा निरन्तर शोषण किया जाता रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था में इस वर्ग की तुलना औद्योगिक मजदूरों से की जा सकती है। मार्क्सवाद के अनुसार यह 'वर्ग संघर्ष' का सिद्धान्त है जो मानव इतिहास के प्रत्येक चरण में देखा जा सकता है। मार्क्स ने मानव इतिहास को निम्न चरणों में विभाजित किया था– 1. आदिम साम्यवादी व्यवस्था 2.दास व्यवस्था 3.सामंतवादी व्यवस्था 4.पूंजीवादी व्यवस्था।

मार्क्स का मानना था कि साम्यवादी व्यवस्था को छोड़ कर प्रत्येक चरण में ये दो वर्ग (बुर्जुवा वर्ग और सर्वहारा वर्ग) विद्यमान रहे हैं जैसे **दास व्यवस्था** में स्वामी (बुर्जुवा वर्ग) और दास (सर्वहारा वर्ग), **सामंतवादी व्यवस्था** में सामंत (बुर्जुवा वर्ग) और भूमिहीन मजदूर (सर्वहारा वर्ग) और इसी प्रकार **पूंजीवादी व्यवस्था** में पूँजीपति (बुर्जुवा वर्ग) और औद्योगिक मजदूर (सर्वहारा वर्ग)। इसीलिए मार्क्स कहते हैं कि 'मानव इतिहास वर्ग संर्घष का इतिहास रहा है'। इन दोनों वर्गों में सदैव संघर्ष होता रहता है जिसका मुख्य कारण बुर्जुआ वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का शोषण है और सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने हितों की रक्षा करने का प्रयास है।

पूँजीवादी व्यवस्था के अंर्तगत इस शोषण की प्रकृति को दर्शाने के लिए मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मानना है कि पूँजीपति वर्ग लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से मजदूरों का शोषण करते हैं। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए श्रमिकों से अतिरिक्त काम लेते हैं परन्तु उन्हें उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से अर्जित लाभ का कोई अंश नहीं देते। यही मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है। मार्क्स कहतें हैं कि शोषण की इस विधि में सर्वहारा वर्ग निरन्तर कमज़ोर पड़ता जाता है। उसकी क्रय क्षमता भी प्रभावित होती है जिसके कारण उत्पादित वस्तुओं का विक्रय घट जाता है। उत्पादित वस्तुओं के विक्रय के लिए पूँजीपति बाज़ार की तलाश में अन्य देशों की ओर जाते हैं तथा

व्यापार के साथ–साथ वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों का भी दोहन करते हैं जिसे उपनिवेशवाद भी कहा जाता है। इतना ही नहीं बल्कि अपने द्वारा बनाए गए उपनिवेशों में ये पूँजीवादी उद्योगों की स्थापना करते हैं तथा वहां भी शोषण का यह घिनौना खेल शुरु कर देते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद का शोषण केवल एक देश तक सीमित न रह कर एक विश्वव्यापी समस्या बन जाती है। शोषण के विरुद्ध एक जुट होकर संपूर्ण विश्व में पूँजीवाद के विरुद्ध क्रांति के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो जाएगा। वैश्विक स्तर पर पूँजीवाद के विरुद्ध क्रांति से पूँजीवाद का उन्मूलन हो जाएगा।

मार्क्सवादी विचारधारा के अंर्तगत संपूर्ण व्यवस्था के अध्ययन के लिए आर्थिक कारकों को श्रेष्ठता दी गई है और इस बात पर बल दिया गया है कि व्यवस्था परिवर्तन का मुख्य आधार आर्थिक (भौतिक) कारक ही हैं। इसलिए मार्क्सवाद के अंर्तगत आर्थिक परिवर्तनों पर विशेष बल दिया गया है। शोषण का स्वरुप भी आर्थिक बना कर प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या पर बल दिया और आर्थिक शोषण को क्रांति का मुख्य कारण माना है।

इस सीमा तक मार्क्सवाद के परम्परागत स्वरुप को समझा जा सकता है परन्तु संपूर्ण मार्क्सवाद को समझने के लिए नव–मार्क्सवाद को भी समझना अति आवश्यक है जिसकी शुरुआत मार्क्सवादी सिद्धान्तों के असफल होने पर हुई। मार्क्स ने जिस वैश्विक क्रांति की बात की थी वह संभव नहीं हो सका क्यो कि पूंजीवाद ने मार्क्सवाद द्वारा की गई आलोचनाओं को गंभीरता से लेते हुए उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन कर दिए जिनके कारण क्रांति की संभावना ही समाप्त हो गई। ऐसे में नव–मार्क्सवादियों ने क्रांति के सिद्धान्त को ठुकरा कर, राज्य के परिप्रेक्ष्य में भी अपने विचारों में परिवर्तन किया और लोकतांत्रिक तरीके से परिवर्तन पर बल दिया।

बोध प्रश्न 1

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थान भरें:
- **क.** मार्क्सवादी विचारधारा को ———— के नाम से भी जाना जाता है।
- **ख.** मार्क्सवाद का जनक ———— को कहा जाता है।

2. एक वाक्य में उत्तर दीजिए:
- **क.** मार्क्स ने इतिहास के कितने चरणों का उल्लेख किया है?
- **ख.** मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के रुप में किन–किन को शामिल किया है?
- **ग.** मार्क्सवाद किस विचारधारा के प्रतिक्रिया स्वरुप अस्तित्व में आया?

27.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण में राज्य की भूमिका

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य के नकारात्मक स्वरुप को उद्धृत किया गया है। इस दृष्टिकोण में राज्य का न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक विश्लेषण भी किया गया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण राज्य को राजनीतिक इच्छा तथा राजनीतिक चेतना का परिणाम नहीं मानता बल्कि इसे उत्पादन पद्धतियों और उससे उत्पन्न वर्ग विभाजन के लगातार परिवर्तनों या सापेक्ष स्थिरता से निकला सामाजिक गतिशीलता के साकार रुप में देखता है। स्वयं मार्क्स ने राज्य को एक उपकरण के रुप में परिभाषित किया है तथा इसे परम्परागत मार्क्सवादी विचारकों

ने स्वीकार किया है कि राज्य पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आया है। परन्तु मार्क्स का यह विचार 1848 की क्रांति में विफल हो गया जिसके परिणामस्वरुप मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में परिवर्तन करते हुए कहा कि पूंजीपति वर्ग स्वयं को राज्य से अलग रखकर अपने हितों को और भी भली भाँति सुरक्षित रख सकता है। इस प्रकार मार्क्सवाद के अन्तगर्त ही एक नयी विचारधारा की शुरुआत हुई जिसमें राज्य की स्वायत्तता पर बल दिया गया और कहा गया कि राज्य आर्थिक रुप् से शक्तिशाली वर्ग से अपेक्षाकृत रुप से स्वायत्त है और इस रुप में ही वह पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है। यह विचार नव–मार्क्सवाद का मूल आधार है। अतः राज्य के संदर्भ में मार्क्सवाद के ही अंर्तगत दो प्रकार के विचार देखे जा सकते हैं– पहला जो राज्य को प्रत्यक्ष रुप से पूँजीपति वर्ग से जोड़कर देखता है (**परम्परागत मार्क्सवादी**) और दूसरा जो राज्य की अपेक्षाकृत स्वायत्तता पर बल देता है और अप्रत्यक्ष रुप से राज्य को पूँजीपति वर्ग के हितों का संरक्षक मानता है (**नव–मार्क्सवादी**)।

प्रो0 हन्ट के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्त में राज्य अधिसंरचना को प्रतिबिम्बित करता है जो कि उत्पादन के साधनों के द्वारा संचालित होता है। राज्य के विभिन्न अंग चाहे वो सेना हो, चाहे वैधानिक व्यवस्था, चाहे पुलिस हो या चाहे अन्य अंग, ये केवल आर्थिक व्यवस्था के अभिभावक के रुप में कार्य करते हैं। वे कहते हैं कि लोकतंत्र एक छलावा है क्यों कि उस समाज में लोकतंत्र हो ही नहीं सकता जहाँ समाज वर्गों में विभाजित हो जैसा कि पूँजीवादी व्यवस्था में है। जब तक पूँजी विलुप्त नहीं हो जाती तब तक वर्ग नहीं खत्म होंगे और न ही एक निष्पक्ष राज्य का निर्माण हो सकेगा।

बोध प्रश्न 2

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
   क. मार्क्सवाद के अनुसार राज्य ————वर्ग का अभिकर्ता होता है।
   ख. मार्क्सवाद—————— समाज का निर्माण करना चाहता है।
2. एक शब्द या एक वाक्य में उत्तर दीजिए।
   क. मार्क्सवादी विचारक राज्य को किस रुप में देखते हैं?
   ख. कौन से मार्क्सवादी विचारक राज्य को प्रत्यक्ष रुप से बुर्जुवा वर्ग से जोड़कर देखते हैं?

27.4 भारतीय राज्यः मार्क्सवादी दृष्टिकोण

भारत के संदर्भ में भी मार्क्सवादी विचारधारा उपरोक्त (27.3 देखें।) विचारों को अपना आधार मानकर चलती है। भारत में, विश्व के अन्य देशों की भांति, आर्थिक रुप से सशक्त वर्ग राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर भी प्रभावशाली है। लोकतंत्र, वास्तव में, कुलीनतंत्र बन कर रह गया है। भारत की आज़ादी के पश्चात् भारतीय बुर्जुवा मुख्यतः उच्च वर्ग था जिसने एक धरोहर के रुप में यह स्थान प्राप्त किया था। भारतीय बुर्जुवा वर्ग के अंर्तगत मुख्यतः पूँजीपति आते हैं जिन्होंने शुरुआती दौर में राज्य के माध्यम से तत्पश्चात राज्य को भी दरकिनार करके अपना अधिपत्य कायम रखना चाहा। प्रारम्भिक काल में तो राज्य के बढ़ते प्रभाव को ध्यान में रखकर इस वर्ग ने राज्य को अपने हितों की रक्षा का एक साधन बनाकर प्रयोग किया और बाद में जब उदारीकरण का दौर आया तब राज्य को भी दरकिनार कर दिया गया।

भारतीय संदर्भ में कई माक्सवादी विचारकों ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किये हैं जो यह दर्शाता है कि मार्क्सवाद की भी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। मुख्य रुप से यदि परम्परागत मार्क्सवादी विचारकों का उल्लेख करें तो ए0आर0 देसाई का नाम सर्वप्रथम आता है जिन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऊपर से दिखने में चाहे कुछ भी हो मगर असलियत में भारतीय राज्य एक पूँजीवादी राज्य है। ऐसा कहने के लिए उन्होने कई साक्ष्य प्रस्तुत किए जैसे प्रथम, संवैधानिक साक्ष्य जिसकी पुष्टि के लिए उन्होने दर्शाया कि भारतीय संविधान राज्य के नागरिकों को सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करती है जो भारतीय राज्य के पूँजीवादी चरित्र को दर्शाता है। हांलाकि प्रकारांतर में इसे संविधान संशोधन द्वारा एक वैधानिक राज्य बना दिया गया परन्तु इसके कारण उभरी असमानताएं ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। द्वितीय, योजना प्रक्रिया जो मिश्रित अर्थव्यवस्था को भारत के विकास के लिए उपयोगी मानता है जोकि केवल पूँजीपति वर्ग के लिए ही हितकर है। तृतीय, भारतीय अर्थव्यवस्था की कार्य पद्धति भी पूँजीवाद के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर रहा है। वर्तमान में (1990 के बाद से) भारतीय अर्थव्यवस्था के अंतर्गत पूर्णरुपेण उदारीकरण, निजीकरण और भू–मण्ड़लीकरण को बढ़वा मिला है जिसने भारतीय राज्य की पूँजीवादी प्रवृति को और भी स्पष्ट कर दिया है।

राज्य की स्वायत्तता के समर्थकों में सबसे पहले हमजा अलावी का नाम आता है जिन्होंने भारतीय राज्य की स्वायत्तता को दर्शाने का प्रयास किया और यह तक्र दिया कि भारत जैसा उत्तर– औपनिवेशिक राज्य नागरिक समाज के सामने सापेक्ष रुप से स्वायत्त है। उनका मानना है कि उत्तर–औपनिवेशिक राज्य राजनीति में मध्यस्थता को त्यागता है क्योंकि राज्य अत्यधिक विकसित हो गया है और बाहरी ढ़ाचे का प्रतिनिधित्व करता है जो सभी स्थानीय सामाजिक वर्गों पर नियंत्रण करता है। आगे वह कहते हैं कि उत्तर–औपनिवेशिक समाज को उत्तराधिकारी के रुप में मिला यह राज्य इतना शक्तिशाली है कि अलोवी को ताज्जुब होता है कि ''राज्य के द्वारा हासिल की गई नियंत्रण और संचालित करने की शक्ति में अत्यधिक बढ़ोत्तरी उस तक्र से भी ऊपर जाती है जो राज्य की निगरानी में कार्यरत परिधीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को सुचारु रु‌प से कार्यशील रहने के लिए आवश्यक है।'' औपनिवेशिक विरासत के अलावा समाज की संरचना भी राज्य की स्वायत्तता बरकरार रखने में मदद करता है। परिधीय पूंजीवादी समाजों में विशिष्ट वर्ग संरचना इसका उत्तर है।

कुछ विचारक जैसे बर्धन भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भारत में न केवल औपनिवेशिक राज्य बल्कि नव–उपनिवेशक राज्य भी अधिक विकसित था। उनके अनुसार ''कुछ मार्क्सवादी विद्वानों ने राज्य के नियंत्रण और व्यवस्थित करने की विशेष शक्ति का स्रोतशासन करने वाले औपनिवेशिक प्रशासन को माना है। लेकिन इस अतिविकसित राज्य की कहानी पूर्व–औपनिवेशिक काल तक जाती है और भारत में मुगल शासन के शिखर पर होने के समय यह निश्चित रुप से मौजूद था।'' बर्धन के लिए भी राज्य की केन्द्रीयता एक प्रमाणित तथ्य है। देर से हुए औद्योगीकरण वाले राज्यों ने अधिक सक्रिय भूमिका अदा की है। उनका विचार है कि स्वतंत्रता के समय भारतीय राज्य ने न तो प्रभुत्वशाली वर्ग की आज्ञा से और न ही उसकी ओर में कार्य किया है। लेकिन वर्षों बाद अनेक बाधाओं के कारण राज्य की स्वायत्तता इसके विकास की भूमिका से अधिक इसके द्वारा नियंत्रण में प्रतिबिम्बित हो रही है।

इस संबंध में इसके बाद अनुपम सेन का नाम आता है जिन्होनें विशेष रुप से भारत में राज्य के स्वभाव व सामाजिक ढ़ाँचे के निर्माण पर विचार किया है। ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर वे तक्र देते हैं कि इसके सामाजिक निर्माण के क्रमिक विकास के स्वभाव के कारण नागरिक समाज के सामने राज्य स्वतंत्र भूमिका निभा सका है। उत्पादन के अनेकों तरीकों के कारण ही आज भारतीय उत्तर–औपनिवेशिक राज्य स्वायत्त है।इसके साथ ही भारतीय समाज आंशिक रुप से सीमांती, पूंजीवादी और एशियाई है। किसी एक वर्ग को प्रभावशाली वर्ग के रुप में उभरने में यह अवरोध पैदा कर रहा है। यह राज्य की स्वायत्तता सुनिश्चित करता है।

अचिन वनायक नव–मार्क्सवादियों के लगभग सभी तर्कों को स्वीकार करते हुए कुछ कदम और आगे जाते हुए कहते हैं कि भारतीय राज्य न केवल आंतरिक रुप से नागरिक समाज से बल्कि बाहरी तौर पर विदेशी पूंजी से भी स्वायत्त है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि स्वदेशी आंतरिक आर्थिक ढ़ाँचे से विदेशी दबाव को सहन करता है, वे यहाँ तक सोचते हैं कि वर्तमान में चल रहा आर्थिक उदारीकरण भी स्थिति को नहीं बदल सकेगा क्योंकि ''भारतीय अर्थव्यवस्था पहले की अपेक्षा मजबूत स्थिति में है और अधिक सावघान भी है।'' वनायक भारतीय मध्यम वर्ग को शासक वर्ग के मोर्चे में नहीं जोड़ते हैं फिर भी वे भारतीय राजनीति और अर्थव्यवस्था में उसकी अहम भूमिका को स्वीकार करते हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय राज्य की प्रकृति की व्याख्या करने के क्रम में दोनो ही मार्क्सवादी गुटों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक ने राज्य को पूंजीपति वर्ग के अभिकर्ता के रुप में दर्शाया है तो दूसरे ने इसकी स्वायत्तता को उजागर करने का प्रयास किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि दोनों ही विचार मार्क्सवादियों द्वारा ही प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   क. भारत में बुर्जुआ वर्ग के अंतर्गत ––––– और ––––– वर्ग आते हैं।

   ख. मार्क्सवादी विचारको के अनुसार भारत एक ––––– राज्य है।

2. इन प्रश्नों का उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

   क. अचिन वनायक भारतीय मध्यम वर्ग के विषय में क्या कहते हैं?

   ख. राज्य के संदर्भ में नव–मार्क्सवादी विचारकों का क्या मानना है?

27.5 भारतीय मार्क्सवादी पार्टी

भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना सन् 1928 में हुई थी। इस पार्टी की विचारधारा का अध्ययन करके हम यह जान सकते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा का स्वरुप भारत में कैसा है। भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी भारतीय राज्य को ''पूंजीपतियों और भूस्वामियों का औजार मानती है, जिसका नेतृत्व बड़े पूँजीपति करते हैं और ये बड़े पूँजीपति विकास के पूँजीवादी मार्ग को जारी रखने के लिए

अधिकाधिक विदेशी पूंजी के साथ साझेदारी करते हैं। इसी प्रकार इससे थोड़ा हटके भाकपा भारतीय राज्य को अर्ध–सामंती और अर्ध–उपनिवेशवादी मानती है। भकपा विचारकों के दृष्टिकोण में ''स्वतंत्र भारत के नाम पर नई सरकार का प्रमुख गुण पुराने सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की निरंतरता है, जिसमें वही प्रशासन–तंत्र, वही अधिकारी वर्ग और पुलिस मौजूद है।'' इसलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''विभिन्न सरकारों के द्वारा क्रियान्वित किए गए सुधरों ने'' आम तौर पर शासक वर्ग का ढ़ाँचा नहीं बदला है। उनके अनुसार विदशी पूँजीपतियों के दलाल पूँजीपतियों ने भारत को विदेशी पूँजीपतियों के पास गिरवी रख दिया है।

ए0आर0 देसाई, मोइन शाकिर और अजित राय जैसे मार्क्सवादी विचारकों ने भी अलंकृत रुप में उसी तरह के उपकरणवादी मार्क्सवादी पार्टी ने समकालीन भारतीय व्यवस्था का मार्क्सवादी मूल्यांकन किया है। मार्क्सवादी पार्टी का मानना है कि भारत एक पूंजीवादी राज्य है। इस राज्य के समाज में भी बुर्जुवा वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग का बंटवारा देखने को मिलता है। पार्टी का यह मानना है कि हालाकि पूंजीपति राज्य पर बराबर दबाव बनाए हुए हैं परन्तु राज्य कुछ हद तक अपनी स्वतंत्रता बनाए हुए है। मार्क्सवादी पार्टी का यह मानना है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीति बुर्जुआ वर्ग के चंगुल में फंसी हुई है तथा वर्तमान में इसकी भूमिका और भी सशक्त होती जा रही है। भारतीय बुर्जुवा वर्ग के अंर्तगत मुख्यतः पूंजीपति आते हैं जिन्होंने शुरुआती दौर में राज्य के माध्यम से तत्पश्चात राज्य को भी दरकिनार करके अपना अधिपत्य कायम रखना चाहा। प्रारम्भिक काल में तो राज्य के बढ़ते प्रभाव को ध्यान में रखकर इस वर्ग ने राज्य को अपने हितों की रक्षा का एक साधन बनाकर प्रयोग किया और बाद में जब उदारीकरण का दौर आया तब राज्य को भी दरकिनार कर दिया गया। जिसका कारण यह है कि वर्तमान में मुक्त–बाज़ार व्यवस्था में राज्य का महत्व कम होता जा रहा है। ऐसे में इस वर्ग ने कई अन्य माध्यमों (जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों) के माध्यम से अपना प्रभुत्व स्थापित किए रखा।

मार्क्सवादी बुर्जुवा वर्ग के अंर्तगत केवल पूंजीपति को ही शामिल नहीं करते बल्कि वे ग्रामीण स्तर के सामंतों, धनाड्य वर्ग तथा कान्ट्रेक्टरों को भी बुर्जुवा वर्ग में ही शामिल करते हैं, जो भूमिहीन मजदूरों, छोटे तथा गरीब किसानों (ग्रामीण–सर्वहारा वर्ग) का शोषण कर रहे हैं।

भारत में केवल आर्थिक आधार पर शोषण को समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि सामाजिक शोषण को भी समझना उतना ही महत्वपूर्ण है। भारत की सामाजिक संरचना का नाम आते ही जाति व्यवस्था की ओर ध्यान स्वतः ही चला जाता है। **ई0एम0एस0 नामबुदरीपाद** ने भी यह उल्लेख किया है कि भारत के संदर्भ में जब बुर्जुवा वर्ग और सर्वहारा वर्ग का उल्लेख होता है तो यह भी ध्यान रखना होगा कि ये वर्ग भी जातिगत आधारों पर बंटे हुए हैं। दोनों ही वर्ग जातीय संरचना के रंग में रंगे हैं। ये वर्ग कभी अपनी जातीय पहचान को ठुकरा नहीं सकते। वर्तमान में उभर रहे बुर्जुवा वर्ग कई सदियों से जातिगत पहचान से स्वयं को आजाद नहीं कर सके हैं बल्कि पूंजीवाद के विकास ने जातियों का सामाजिक और राजनीतिक पुर्नगठन करके इसे नवीन रुप प्रदान कर दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी दलितों की वही दशा देख जा सकती है जो मात्र एक दैनिक वेतन पर पलनेवाले मजदूर बन कर रह गए हैं। किसी भी अन्य जाति की दशा इतनी दयनीय नहीं है जितनी कि इस जाति की। अतः सर्वहारा वर्ग की क्रांति में जाति व्यवस्था से इस वर्ग को मुक्ति दिलाना भी शामिल है। केवल ग्रामीण स्तर पर सामंती ताकतों से लड़ना ही यह सुनिश्चित नहीं कर सकता कि जाति व्यवस्था भी

समाप्त हो जाएगी। इसके लिए श्रमिकों के आन्दोलनों के माध्यम से ही यह करना होगा क्यों कि अधिकांश श्रमिक इसी जाति के होते हैं। अतः कम्यूनिष्ट पार्टी वर्ग तथा वर्ण दोनों ही स्तर पर परिवर्तन पर बल देती है। क्योंकि **बी0टी0 राणादीव** का यह मानना है कि जब–जब जाति व्यवस्था के विरुद्ध अलग से लड़ने का प्रयास किया गया है तब–तब हार हुई है इसलिए जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष को वर्ग संघर्ष के साथ जुड़ना होगा।

भारत में पूंजीवाद के उदय ने एक अन्य वर्ग को भी जन्म दिया जिसे मध्य वर्ग के नाम से भी जाना जाता है। इस वर्ग में मुख्तः वेतनभोगी कर्मचारी आते हैं जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। भारतीय मध्य वर्ग ने शुरुआत से ही नेहरु के मॉडल पर चलने का प्रयास किया है जो कि रोजगार पर आधारित था और स्वतंत्र भारत के विकास में बौद्धिक वर्ग के रुप में योगदान करता था। यह वर्ग एक विजातीय वर्ग है जिसकी कोई एक पहचान नहीं है इन्हे किसी एक जाति या क्षेत्र से जोड़ कर समझ पाना कठिन है। यह वर्ग मैनेज़रों, प्रशासनिक अधिकारियों, तकनीकी तथा वैज्ञानिकों, दुकानदारों, अध्यापकों आदि से बना है। उदारीकरण ने कुछ हद तक इस वर्ग को कम्युनिस्टों के समीप ला दिया है। मध्य वर्ग में ही उच्च–मध्यवर्गीय समुदाय को उदारीकरण से काफी लाभ मिला है जिसके कारण वे बुर्जुवा वर्ग की भांति हो गए हैं परन्तु निम्न–मध्यवर्गीय समुदाय को सामाजिक परिवर्तन के इस संघर्ष से जोड़कर देखा जा सकता है तथा सर्वहारा वर्ग की श्रेणी में रखा जा सकता है। साम्यवादी पार्टी के समक्ष यह एक चुनौती है कि किस प्रकार एस वर्ग को इस संघर्ष में शामिल किया जाए।

भरतीय समाज की एक अन्य जटिलता जेंडर भिन्नता से सम्बन्धित है जो प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस समस्या को भी कम्यूनिष्ट एक वर्ग समस्या के रुप में देखते हैं। उनका मानना है कि लिंग आधारित भेद–भाव भारतीय समाज में इतनी महत्वपूर्ण है कि बिना इसे सम्मिलित किए किसी भी प्रकार के श्रमिक वर्ग आंदोलन के विषय में सोचना अर्थहीन होगा। इसलिए भारतीय साम्यवादी पार्टी ने अपने कार्यक्रम में संशोधन करते हुए कहा कि वर्षों से चली आ रही बुर्जुवा–सामंत शासन ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को जन्म दिया है। हर स्तर पर महिलाओं का शोषण हुआ है चाहे वह एक महिला के रुप में हो, एक श्रमिक के रुप में या फिर एक नागरिक के रुप में। उदारीकरण की प्रक्रिया ने नए प्रकार के आर्थिक व सामाजिक शोषण को जन्म दिया जिससे महिलाओं के प्रति हिंसा में वृद्धि हुई है। आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर स्वतंत्र भूमिका का निर्वाह करना महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए एक आवश्यक शर्त है। महिलाओं द्वारा चलाए जा रहे लैंगिक समानता का आंदोलन सामाजिक उत्थान के लिए चलाए जा रहे आंदोलन का ही एक अभिन्न अंग है।

भारतीय साम्यवादी पार्टी का यह मानना है कि सन् 1950 में भारत के संविधान में संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रावधान है जिसके आधार पर प्रत्येक स्तर पर भारतीय राजनीति चल रही है। हालाकि भारत में बुर्जुवा वर्ग इस लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका अदा कर रहा है परन्तु यह स्वयं में एक उपलब्धि है कि लोकतांत्रिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना हुआ है। इस बात को ध्यान में रखकर मार्क्सवादियों का भी यह कर्त्तव्य बनता है कि वे इस व्यवस्था का एक अंग बनकर संघर्ष करें।

मार्क्सवादियों के अनुसार लोकतंत्र का केवल यह अर्थ नहीं है कि जनता को हर पाँच वर्षों में मतदान करने का अधिकार मिले। उदारवाद के प्रसार के साथ–साथ भारत में राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक और आर्थिक लाकतंत्र से

अलग–अलग चल रहा है। राजनीति में तो सत्ता परिवर्तन होता रहता है परन्तु सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता। इसके कारण समाज में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के मध्य विभेद बढ़ते जा रहे हैं। अतः साम्यवादी पार्टी का यह कार्य हो जाता है कि वह वर्ग चेतना का विस्तार करे और वर्ग–संघर्ष के द्वारा परिवर्तन पर बल दे।

बोध प्रश्न 4

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
   - **क.** भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना सन्–––– में हुई थी।
   - **ख.** भारत में वर्ग आधारित अध्ययन के समक्ष –––––– व्यवस्था एक चुनौती के समान है जिसका अध्ययन किया जाना आवश्यक है।
2. एक शब्द या एक वाक्य में उत्तर दीजिए।
   - **क.** किन्हीं दो भारतीय मार्क्सवादी विचारकों के नाम लिखिए।
   - **ख.** भारत में मार्क्सवादी विचारकों ने औद्योगिक मजदूरों के साथ–साथ अन्य किन वर्गों के लिए संघर्ष किए जाने पर बल दिया है?

27.6 भारतीय राज्य का चरित्र

भारत कई वर्षों तक ब्रिटिश शासन के अधीन रहने के पश्चात् स्वतंत्र हुआ और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही भारतीय राज्य का वास्तविक चरित्र विश्व के समक्ष उभर कर आया। हालाकि भारत की स्वतंत्रता से पूर्व भी इसकी अपनी पहचान और अपना एक विशिष्ट चरित्र था परन्तु वर्तमान परिदृश्य में भारतीय राज्य के चरित्र का अध्ययन करने हेतु हमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के भारत को देखना होगा। निःसंदेह भारत पर, अन्य राज्यों की भाँति, उसके इतिहास का गहरा प्रभाव रहा है जिसे एक धरोहर के रुप में देखा जा सकता है।

भारतीय समाजिक संरचना को जाने बिना उसके वास्तविक चरित्र को समझ पाना कठिन होगा इसलिए हमारा पहला प्रयास भारतीय सामाजिक संरचना को समझना है। भारतीय समाज प्राचीन काल से ही कई वर्णों में विभाजित रहा है जिसके विकृत रुप के तौर पर जाति व्यवस्था को देखा जा सकता है जो कि वर्तमान भारत की भी एक सच्चाई है। इसका प्रभाव न सिर्फ भारत के समाज पर बल्कि संपूर्ण राजनीति में भी देखा जा सकता है। भारतीय राज्य के चरित्र के किसी भी परिपूर्ण अध्ययन की शुरुआत भारतीय राज्य के उदभव की ओर नज़र डालने से शुरु होना चाहिए। यानी भारत में औपनिवेशिक शासन एवं भारतीय राष्ट्र आंदोलन के वर्ग चरित्र और उसमें विभिन्न सामाजिक वर्गों की भूमिका पर।

भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश में राज्य की भूमिका बेहद पेचीदा है। कई क्षेत्रों में वह एक बहुत ही सकारात्मक तथा स्वायत्त भूमिका अदा करता है। स्वाधीनता के बाद भारत में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग वर्चस्व में आया। राज्य अर्थव्यवस्था में सक्रीय रुप से हस्तक्षेप करता है, ताकि पूंजीवाद के विकास के लिए अनुकूल स्थिति तैयार की जा सके। भारतीय राज्य सामंतवाद से अल्पकालिक समझौते करता है। इन समझौतों के चलते अर्थव्यवस्था में मौजूद प्राक–पूंजीवादी तत्वों की जगह राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ले सकेगा ऐसी आशा अब मार्क्सवादी विचारकों में तेजी से लुप्त हो रही है।

भारतीय राज्य देशी पूंजीपतियों के पक्ष में एक सक्रीय भूमिका अदा करता है। इसके तहत बुनियादी उद्योगों की स्थापना, बाहरी सहायता का जरुरत पड़ने पर नियंत्रण, गलत दिशा में जा रहे, व्यक्तिगत पूंजीपतियों को नियंत्रणों के माध्यम से अनुशासित करना, कुछ आर्थिक गतिविधिय उद्यमों का राष्ट्रीयकरण करना तथा योजनाबद्ध विकास आदि कार्य किए जाते हैं। इसी तरह भारतीय राज्य गर्व के साथ अणुविज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, अनुसूचित जातियों/जनजातियों जैसे पिछड़े सामाजिक तबकों का संरक्षण तथा संचार एवं यातायात (रेल तथा सड़क) के विशाल तंत्र कायम करने आदि क्षेत्रों में किए गए कार्यों का दावा करता है।

मार्क्सवादी विचारक भारतीय राज्य को एक दमनकारी राजनीतिक ढ़ाँचे के रुप में देखते है जो फौज, पुलिस, नौकरशाही,न्यायपालिका, संसद आदि जैसे अपने औजारों से राजनीतिक स्थिरता कायम रखता है तथा शासक वर्ग के हितों की रक्षा करता है। ऐसा करते हुए राज्य शासक वर्गों के विभिन्न घटकों के प्रतियोगी हितों को भी सम्मिलित करता है तथा कभी कभी शोषित वर्गों के लिए भी कुछ रियायतें कर सकता है।

विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में भारतीय राज्य हांलाकि साम्राज्यवाद, नव–उपनिवेशवाद तथा नक्सलवाद के खिलाफ संघर्ष में अग्रणी भूमिका निभा रहा है फिर भी भारतीय शासक वर्गों की कमजोरी और विलंबित पूंजीवादी विकास के रास्ते के अंतर्विरोध उन्हें महानगरीय देशों पर निर्भर होने (खासकर आर्थिक रुप से) पर मजबूर करते है। कभी कभी भारतीय शासक वर्ग को समझौते करने पड़ते हैं, परन्तु इससे भारत कोई अर्धउपनिवेश नहीं बन जाता। गुटनिरपेक्षता की नीति भारत को समाजवादी तथा पूंजीवादी खेमें के बीच दाँव खेलने का मौका देती है और इसी प्रकार अपनी राजनीतिक स्वाधीनता को भी बचाने का।

27.7 सारांश

राजनीतिक–आर्थिक क्षेत्र में भारत की बढ़ती हुई महत्वपूर्ण भूमिका और एक आश्चर्यजनक राजनीतिक स्थिरता, राज्य के अध्ययन में पुनः रुचि जगाने के महत्वपूर्ण कारण हैं। भारत में औद्योगीकीकरण बहुत देर से हुआ और यह शताब्दियों से ब्रिटिश उपनिवेश भी रहा है जिसके कारण भारतीय राज्य का अध्ययन और भी रोचक हो जाता है।

राज्य के चरित्र का अध्ययन करते हुए मार्क्सवादी उसका वर्ग चरित्र, रुप, कार्य तथा गति समझने और एक संभव रणनीति तैयार करने की कोशिश करते हैं जिससे उसके शोषण पर आधारित चरित्र को बदला जा सके। मार्क्सवादी राज्य को एक वर्ग विशेष का हथियार मानते हैं जो इसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आया है और उसके कार्य तथा उसके हस्तक्षेप उसी वर्ग की रक्षा के उद्देश्य से होते हैं। कुछ मार्क्सवादी विचारकों ने राज्य के इतर जाते हुए भी पूँजीपति वर्ग के प्रभाव में वृद्धि को दर्शाया है परन्तु यह किसी भी प्रकार से राज्य की निष्पक्षता को दर्शाने का प्रयास नहीं है बल्कि यह इस बात की ओर इशारा करता है कि पूँजीपति वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए केवल राज्य पर ही आश्रित नहीं है राज्य तो इसके कई विभिन्न साधनों में से एक है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के उद्देश्य पर ध्यान दें तो यह देखने को मिलता है कि मार्क्सवाद राज्य विहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य ले कर चलता है। इस प्रकार भारतीय संदर्भ में राज्य की प्रकृति की व्याख्या भी मार्क्सवादी विचारकों ने अपने हितों और उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही की है।

इस इकाई में आपने भारतीय राज्य के विषय में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टियों के मूल्यांकन के बारे में पढ़ा तथा उनके बीच के मतभेदों को जाना जो उनके बीच भारतीय राज्य तथा पूँजीपति वर्ग को लेकर है। हालाकि विभिन्न विचारधाराओं के समर्थकों ने भारतीय राज्य की व्याख्या करने का प्रयास तो किया है परन्तु कोई भी व्याख्या स्वयं में पूर्ण नहीं मानी जा सकती क्योंकि भारतीय राज्य के बारे में किसी भी परिपूर्ण व्याख्या के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र, उत्पादन पद्धति, शासक वर्गों की बनावट, वर्ग संबंध आदि को ध्यान में रखना होगा और फिर यह देखना होगा कि भारतीय राज्य इसे किस प्रकार संचालित करता है और साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि वह किस उत्पादन पद्धति का समर्थन करता है।

27.8 शब्दावली

बुर्जुआ वर्ग– मार्क्सवाद के अनुसार यह वह नाम उस वर्ग का है जो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक रुप से शक्तिशाली होता है। इस वर्ग के हाथों में उत्पादन के सभी साधन होते हैं और यह वर्ग अपने हितों को ध्यान में रखकर उत्पादन का कार्य करता है।

सर्वहारा वर्ग– मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत यह वर्ग मुख्य रुप से औद्योगिक मजदूरों का वर्ग है जिसके पास न तो आर्थिक शक्ति होती है, न राजनीतिक और न ही सामाजिक शक्ति। यह वर्ग शोषित वर्ग है जिसका शोषण बुर्जुआ वर्ग द्वारा किया जाता है।

पूँजीवाद– पूँजीवाद एक ऐसी विचारधारा है जो पूँजी–प्रधान उत्पादन की विधि पर बल देता है।

साम्राज्यवाद– यह एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य पर अपना सैन्य–कब्जा स्थापित कर लेता है।

उपनिवेशवाद– यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके तहत एक राज्य दूसरे राज्य को आर्थिक रुप से अपना गुलाम बना देता है।

नव–उपनिवेशवाद– यह उपनिवेशवाद का ही नवीन रुप है जिसमें एक अथवा कई विकसित (पूँजीवादी) राज्य विभिन्न संस्थाओं जैसे डब्लू0टी0ओ0, वर्ल्ड बैंक, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों पर अपना अधिपत्य कायम करता/करते हैं।

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अलवी, हमजा, ''उपनिवेशोत्तर समाजों में राज्य'', हैरी गोलबर्न की ''तीसरी दुनिया में राजनीति व राज्य'', मैकमिलन, नई दिल्ली, 1979

बर्द्धन, प्रणव, ''पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ डेवलपमेंट इन इंड़िया''। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1984

भांबरी, सी0पी0, ''पालिटिक्स इन इंड़िया–1947–87'', विकास, नई दिल्ली, 1988

देसाई, ए0आर0, ''इंड़ियन पाथ ऑफ ड़ेवलॉपमेंट–ए माक्सिस्ट अप्रोच'' पॉपुलर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984

स्टेनले, ए0 कोनैक, ''बिजनेस एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बक्रले, 1974

रुडॉल्फ, लिथ्यार्ड एवं सुसैन रुडॉल्फ, '' इन परसूट ऑफ लक्ष्मी– द पॉलिटिकल इकानॉमी ऑफ द इण्डियन स्टेट'' युनिर्वसिटी ऑफ शिकागो एण्ड ओरियंट लांगमैन,1987

कोहली, अतुल, ''द स्टेट ऑफ पावर्टी इन इण्डिया'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1987

27.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. क. वैज्ञानिक समाजवाद

   ख. कार्ल मार्क्स

2. क. चार

   ख. औद्योगिक मजदूरों को।

   ग. पूंजीवाद

बोध प्रश्न 2

1. क. बुर्जुवा वर्ग ख. वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन

2. क. मार्क्सवादी विचारक राज्य को बुर्जुवा वर्ग के अभिकर्ता के रुप में देखते हैं।

   ख. परम्परागत मार्क्सवादी विचारक राज्य को प्रत्यक्ष रुप से बुर्जुवा वर्ग से जोड़कर देखते हैं।

बोध प्रश्न 3

1. क. पूंजीपति और सामंतवादी

   ख. पूंजीवादी

2. क. अचिन वनायक मध्यम वर्ग को शासक वर्ग में नहीं जोड़ते फिर भी अर्थव्यवस्था में उनकी अहम भूमिका को स्वीकारते हैं।

   ख. नव–मार्क्सवादी विचारक परम्परागत मार्क्सवादी विचारकों के विपरीत जाते हुए राज्य को स्वायत्त रुप में देखते हैं न कि पूंजीपतियों के अभिकर्ता के रुप में।

बोध प्रश्न 4

1. क. 1928

   ख. जाति व्यवस्था

2. क. ए0आर0 देसाई और मोइन शाकिर

   ख. भारत में मार्क्सवादी विचारको ने औद्योगिक मजदूरों के साथ–साथ भूमि–हीन मजदूर, छोटे और गरीब किसान, दलित वर्ग तथा महिलाओं के लिए संघर्ष किए जाने पर बल दिया है।

इकाई 28

भारतीय राज्य की प्रकृतिः उदारवादी दृष्टिकोण

इकाई की रुपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 उदारवादी दृष्टिकोण में राज्य की भूमिका

28.3 भारतीय राज्यः उदारवादी दृष्टिकोण

28.3.1 राजनीतिक–संस्थागत दृष्टिकोण

28.3.2 राजनीतिक–अर्थशास्त्र दृष्टिकोण

28.4 भारतीय राज्य का चरित्र

28.5 सारांश

28.6 शब्दावली

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

भारतीय राज्य की प्रकृति को लेकर मुख्यतः दो प्रकार के दृष्टिकोण देखे जा सकते हैं जो अपने विचारधारा के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। इस इकाई में हम उदारवादी दृष्टिकोण पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे और निम्नलिखित बातों को जान सकेंगे–

- उदारवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को जान सकेंगे
- उदारवादी दृष्टिकोण में राज्य की प्रकृति को समझा सकेंगे
- भारतीय राज्य की उदारवादी व्याख्या को जान सकेंगे

28.1 प्रस्तावना

वर्तमान संदर्भ में राजनीति विज्ञान में राज्य की प्रकृति को लेकर विभिन्न प्रकार की व्याख्याएं विद्यमान हैं। प्राचीन काल में राज्य की उत्पत्ति, उसके गठन और विकास को लेकर अध्ययन किया जाता था परन्तु आधुनिक काल में उपरोक्त विषयों से ध्यान हटाकर इस बात पर बल दिया जाता है कि राज्य की प्रकृति क्या है और यह किस प्रकार काम करता है। आधुनिक काल में, विशेष रुप से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास के बाद राज्य की केन्द्रीयता बढ़ी है और इसलिए यह प्रश्न और भी प्रासांगिक हो गया है कि आधुनिक राज्य की प्रकृति क्या है। एक तरफ तो राज्य और भी ज्यादा सक्रीय और प्रभावी होता जा रहा है और दूसरी तरफ राज्य की शक्ति किन्ही अर्थों में कम भी होती जा रही है। इस प्रकार राज्य की प्रकृति का अध्ययन आज कई जटिल समस्याओं से जूझा रहा

है। ऐसे में अलग–अलग दृष्टिकोणों से राज्य की प्रकृति का अध्ययन हमें राज्य को बेहतर ढ़ग से समझने में सहायता प्रदान करेगी।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण में राज्य के अध्ययन को पिछली इकाई (इकाई 27) में वर्णित किया जा चुका है कि मार्क्सवादी किस प्रकार भारतीय राज्य को बुर्जुवा वर्ग के अभिकर्ता के रुप में देखते हैं और कुछ मार्क्सवादी राज्य की अपेक्षाकृत स्वायत्तता के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इससे यह समझना आसान हो गया कि मार्क्सवादी विचारधारा राज्य को किस प्रकार देखती है।

इस इकाई में हम उदारवादी विचारधारा से राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे। उदारवादी विचारधारा दो प्रकार से राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने का प्रयास करता है– पहला, संविधान का अध्ययन करते हुए इसकी प्रकृति का संस्थागत अध्ययन करके। इसके अंतगर्त भारतीय राज्य की प्रकृति को मूलतः उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के रुप में देखते हुए इसके विभिन्न संस्थाओं जैसे संसद, मंत्रिमण्डल, स्वतंत्र न्यायपालिका, चुनावी प्रक्रिया और संस्थाएं, राजनीतिक दल और दबाव समूहों का अध्ययन किया जाता है, जिनके बिना उदारवादी संस्थाओं का सुचारु रुप से काम करना संभव नहीं है। दूसरा, राजनीतिक–आर्थिक अध्ययन करके जिसके अंतर्गत राजनीतिक संस्थाओं को अर्थव्यवस्था के संदर्भ में देखते हुए इनके बीच के घनिष्ठ संबंध को उधृत किया जाता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवस्था को आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक पारिस्थिति का एक अंश मानकर इनके अंर्तसंबंध के आधार पर अध्ययन किया जाता है।

भारतीय राज्य के उदभव के बाद से ही इसकी व्याख्या कई प्रकार से की गई है। भारतीय राज्य की उदारवादी व्याख्या राज्य को समाज से अलग और समाज के ऊपर देखते हुए इसकी प्रकृति का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस इकाई में उदारवादी विचारधारा के आधार पर भारतीय राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

28.2 उदारवादी विचारधारा में राज्य की भूमिका

उदारवादी दृष्टिकोण राज्य की प्रकृति को मार्क्सवादी विचारधारा के बिलकुल विपरित मानकर चलती है। उदारवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य को एक ऐसी संस्था के रुप में देखा जाता है जो समाज से बाहर और ऊपर है। उदारवादी विचारधारा के बहुलवादी सिद्धान्त में राज्य को समाज में रह रहे लोगों की आम सहमति से बनी संस्था के रुप में देखा जाता है, जिसके पास सार्वजनिक क्षेत्र में प्रयोग किए जाने योग्य शक्ति है। राजनीति की दृष्टि से देखें तो राज्य और सामाजिक संरचना दो अलग–अलग व्यवस्था नहीं है बल्कि राज्य सामाजिक संरचना का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में राज्य ही सामाजिक संरचना का सबसे अहम हिस्सा है जो अपनी शक्ति के बल पर ही संपूर्ण समाज में अपने प्रभाव और वर्चस्व को बनाए हुए है।

यदि भारतीय संदर्भ में देखा जाए तो उदारवादी विचारकों ने राजनीतिक श्रोतों की स्वतंत्रता और प्राथमिकता पर बल दिया है, जिससे राज्य एक स्वायत्त संस्था के रुप में दिखता है। इस प्रकार भारतीय राज्य का उदारवादियों ने दो रुपों में अध्ययन किया है– पहला, राजनीतिक–संस्थागत रुप में और दूसरा, राजनीतिक अर्थशास्त्र के रुप में जिसका उल्लेख निम्नवत है।

28.2.1 राजनीतिक–संस्थागत दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण भारतीय राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने वाला पहला दृष्टिकोण है। इसके अंतर्गत राज्य की सर्वोच्चता को प्रदर्शित किया जाता है इसलिए यह दृष्टिकोण भारतीय राज्य की सर्वोच्चता को भी दर्शाता है। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत में पश्चिमी और मुख्य रुप से यूरोपीय प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है, चाहे वह आर्थिक क्षेत्र हो, राजनीतिक हो या फिर सामाजिक क्षेत्र ही क्यों न हो।

इसी प्रकार राजनीति में कई ऐसी संस्थाओं का निर्माण भी किया गया, जो पूरी तरह से उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के तर्ज पर बनी जैसे जन प्रतिनिधित्व को राज्य में महत्व देने के लिए संसद, निष्पक्ष तथा स्वतंत्र न्यायपालिका, संसद के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका, धर्मनिर्पेक्षता, आदि। उदारवादी विचारकों ने भारतीय राज्य का भी अध्ययन यूरोपीय देशों के तर्ज पर करना प्रारम्भ किया। परन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय है कि राजनीति में जितना प्रभाव पश्चिमी देशों का दिखता है, उतना समाज में नहीं, वहीं दूसरी ओर आज भी भारतीय समाज की प्राचीन संस्कृति को हम बड़ी ही आसानी से चिन्हित कर सकते हैं। ऐसे में भारतीय राज्य और सामाजिक संरचना में कोई तालमेल नहीं दिखता, जिसके कारण डब्ल्यू0 एच0 मोरिस जोन्स ने भी भारतीय राज्य के विषय में यह टिप्पणी की है कि भारतीय राज्य में दो विरोधी ताकतें या तत्व एक साथ काम कर रहीं हैं– पहला, पश्चिमी तर्ज पर राजनीतिक संरचना और दूसरा पारम्परिक समाजिक व्यवस्था।

उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राज्य भारत की सामाजिक संरचना पर निर्भर नहीं या फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक संरचना से बिलकुल अछूता है। ऐसे वातावरण में राज्य ने अपनी गतिशीलता, महत्व और सर्वोच्चता को बनाए रखा है। वह सामाजिक रुढ़ियों और परम्पराओं से स्वयं को पृथक रखकर कार्य करता है। यहाँ रजनी कोठारी के विचारों का भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने कहा है कि भारतीय राज्य ने विविधता से परिपूर्ण भारतीय सामाजिक संरचना से अलग रह कर अपनी स्वायत्तता को बनाए रखा है। उनका मानना है कि भारतीय राज्य राज्य में उठ रहे विभिन्न मांगों का सामना पूरी स्वतंत्रता के साथ करता है तथा ऐसी विस्तृत संस्थागत संरचना का निर्माण किया जा चुका है, जिससे राज्य अपनी पूरी क्षमता से इन मांगों को स्वतंत्रतापूर्वक पूरा कर सके और इन पर स्वतंत्र निर्णय ले सके।

भारतीय राज्य की यह भी विशेषता है कि एक तरफ यह प्रतिनिधित्व पर आधारित राजनीतिक संरचना को प्रोत्साहित करता है और दूसरी तरफ यहा योजनाओं और नियोजन का कार्य एक केन्द्र से होता है। यह एक तरफ केन्द्रीकरण और दूसरी तरफ विकेन्द्रीकरण का एक अच्छा नमूना भी प्रस्तुत करता है। केन्द्रीकृत नियोजन पद्धति को अपनाते हुए राज्य द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र, आर्थिक विकास, सामाजिक संघटन तथा राष्ट्रीय एकीकरण को एक साथ बढ़वा देना एक बहुत ही जटिल कार्य था, जिसे भारतीय राज्य ने बखूबी निभाया है। परन्तु अपने बाद के लेखों में उन्होने कहा है कि भारतीय राज्य अब अपनी स्वायत्तता खोता जा रहा है क्योंकि अब वह पूंजीपतियों और प्रभावशाली लोगों के प्रभाव तथा उनके स्वहित से संचालित हो रहा है। ऐसा होने के कारण राज्य में राजनीति का अपराधीकरण और हिंसा, भ्रष्टाचार और अन्य समस्याएं पनपने लगीं हैं।

कोठारी के अनुसार राज्य की स्वायत्तता का भारी ह्रास हुआ है। पिछले कुछ दशकों से यह देखने को मिल रहा है कि भारतीय राज्य की प्रकृति में कई

परिवर्तन हुए हैं। आशीष नंदी के अनुसार आज राष्ट्रीय हित, सैनिक तैयारियाँ, विदेशी षड़यंत्रों, परमाणु हथियारों, आदि के प्रति सजगता, जैसे कई कारकों ने इसकी प्रकृति में खासा परिवर्तन किया है। हालाकि भारतीय राज्य के कई आलोचक आज भी इसकी आलोचना करते हैं, परन्तु उपरोक्त कारकों ने राज्य की आवश्यकता और इसके महत्व को बढ़ाया है और इसकी प्रकृति को और भी स्पष्ट किया है। आज राज्य और भी शक्तिशाली बनता जा रहा है क्योंकि आधुनिक काल में विज्ञान, तकनीक और नवीन प्रबंध व्यवस्था ने इसकी कार्यशैली को और भी विकसित कर दिया है। परन्तु यह भी ध्यान देने का विषय है कि कितने हद तक राज्य अपनी जनता का विश्वास हासिल कर पाने में सक्षम हुआ है? क्या यह समाज के सभी वर्गों का विश्वास हासिल कर पाने में सक्षम हो चुका है? क्योंकि भारतीय समाज विविधता से भरी हुई है, ऐसे में समूचे समाज का विश्वास अर्जित कर लेना एक बहुत बड़ी चुनौती है और यदि ऐसा कर लिया जाए तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि भी बन जाएगी। प्रश्न यह भी उठता है कि अगर भारतीय राज्य ने यह विश्वास हासिल कर भी लिया है तो इसका आधार क्या है? क्या यह बल पूर्वक किया गया है या फिर जनता की इच्छाओ के आधार पर? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर जाने बिना भारतीय राज्य की प्रकृति को समझ पाना कठिन प्रतीत होता है।

पिछले कुछ दशकों में यह देखा गया है कि पहले जिस प्रकार का राजनीतिक नेतृत्व भारतीय राज्य को सभाले हुए था आज वह परिवर्तित हो चुका है। पूर्व का नेतृत्व इतना शक्तिशाली था, कि वह अपनी नीजी शक्तियों का प्रयोग कर इन समस्याओं का समाधान करता था और अपनी स्वीकार्यता बनाए हुए था, जबकि आज का नेतृत्व समस्याओं के समाधान और संघर्षों के समापन में कुछ कमजोर प्रतीत हो रहा है। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि भारत आज भी गरीबी, बेरोजगारी, प्रति व्यक्ति आय, जैसी विकास से संबंधित समस्याओं से जूझ रहा है और भारतीय राज्य आज भी इन समस्याओं को सुलझाने में कामियाब नहीं हो पाया है। इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार उदारवादी और मुख्य रुप से राजनीतिक–संस्थागत विचारधारा के समर्थकों ने राज्य को स्वायत्त समझ कर उसका अध्ययन करना प्रारंभ किया था, वैसा बिलकुल नहीं है। ऐसे में राजनीतिक–आर्थिक दृष्टिकोण को अपनाया जाना आवश्यक हो जाता है, जो राज्य को एक पारिस्थिकी में देखने का प्रयास करती है।

बोध प्रश्न 1

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. उदारवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत दो प्रकार के दृष्टिकोण कौन–कौन से हैं?
2. राजनीतिक–संस्थागत दृष्टिकोण राज्य की प्रकृति को जानने के लिए किसके अध्ययन पर बल देता है?

28.2.2 राजनीतिक–अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण

जब कभी राजनीति और अर्थशास्त्र की बात चलती है, तो स्वाभाविक है, कि हमारे मन में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का विचार आता है। परन्तु उदारवादियों ने राजनीतिक–अर्थशास्त्र दृष्टिकोण को एक आधुनिक दृष्टिकोण के रुप में पुनः लाने का प्रयास किया है, जो कि राजनीति को एकांत में नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था और आर्थिक कारकों के संदर्भ में देखने का प्रयास करता है। इसे अंतर्विषयक अध्ययन

का एक रुप भी माना जा सकता है। वैसे तो आर्थिक कारकों ने सदैव राजनीति में एक अहम भूमिका निभाई है, परन्तु इस दृष्टिकोण का महत्व तब और भी बढ़ गया, जब भूमंडलीकरण तथा उदारीकरण के दौर में आर्थिक कारक प्रधान हो गए। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य जिस आर्थिक परिवेश में काम करता है तथा उसकी राजनीति का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पडता है, इन सभी विषयों का अध्ययन किया जाता है।

भारतीय राज्य के विषय में अधिकतर धारणाएं राजनीतिक अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य से ली गई हैं और राजनीतिक अर्थशास्त्र की मूल प्रेरणा मार्क्सवादी चिन्तन ही है। इसलिए इस दृष्टिकोण को मार्क्सवाद के एक रुप में देखने का प्रयास किया जाता है। परन्तु भारतीय राज्य की मार्क्सवादी व्याख्या को लेकर बहुत असंतोष रहा है, जिसका कारण यह है कि मार्क्सवाद भारतीय समाज की कुछ महत्वपूर्ण विशिष्टताओं की अनदेखी कर देता है, जिसके कारण इसके द्वारा भारतीय राज्य की व्याख्या अधूरी प्रतीत होती है। अतः मार्क्सवादी व्याख्या को नकारते हुए कई उदारवादी विद्वानों ने भारतीय राज्य की प्रकृति की व्याख्या करने के लिए राजनीतिक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है।

जब भारतीय राज्य की बात आती है, तो यह देखने को मिलता है कि उदारवादियों ने भारतीय राज्य का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया है जिसमें आर्थिक कारकों के आधार पर राज्य को समझाने का प्रयास किया गया है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि यह महसूस किया गया कि राजनीति विज्ञान का संस्थागत अध्ययन, जिसमें राज्य के संविधान तथा राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन मात्र किया जाता है, से राज्य और उसके कार्यों को पूर्ण रुप से समझ पाना सम्भव नहीं है। यदि भारतीय राज्य की बात की जाए, तो भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था का राजनीति पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, यह हम जानते ही हैं। अतः भारतीय राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने के क्रम में इस दृष्टिाकोण का प्रयोग बहुत हद तक हमें भारतीय राज्य को समझने में सहयोग प्रदान कर सकता है, क्योंकि यह परम्परागत दृष्टिकोण को त्याग कर राज्य का अध्ययन व्यवहारवादी दृष्टिकोण से करने का प्रयास करता है। इतना ही नहीं बल्कि यह भारतीय राज्य, समाज तथा अर्थव्यवस्था के मध्य अंतरक्रिया का अध्ययन करने पर भी बल देता है। इस दृष्टिकोण में संस्थाओं के अध्ययन पर निर्भर न होते हुए, एक विस्तृत दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जो राज्य का अध्ययन इसके वर्तमान परिवेश में सम्पूर्णता में करने पर बल देता है।

भारतीय राज्य की प्रकृति के अध्ययन का यह दृष्टिकोण एक तरफ अर्थव्यवस्था और दूसरी तरफ राज्य को केन्द्र में लाकर खड़ा करता है। यह दृष्टिकोण यह दर्शाने का प्रयास करता है कि किस प्रकार आर्थिक कारक राज्य की विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावित करती हैं और राज्य अर्थव्यवस्था में एक मध्यस्थ की भूमिका निभा रहा है। जहाँ तक भारतीय राज्य के विकास का प्रश्न है, भारत ने स्वतंत्रता के बाद से ही सार्वजनिक क्षेत्र को निरन्तर बढ़ावा देने का प्रयास किया है। भारत के विकास के शुरुआती दौर में सार्वजनिक क्षेत्र के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के विकास में राज्य की भूमिका को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि भारतीय राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्रों के माध्यम से भारत के विकास को गति प्रदान की है। ऐसे में राज्य को अर्थव्यवस्था या आर्थिक कारकों से अलग करके देखना कहीं से भी उचित नहीं होगा। यदि हम ऐसा करने का प्रयास भी करते हैं तो हम भारतीय राज्य को सम्पूर्णता में समझाने में सफल नहीं होंगे।

उदारवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत ही राज्य की प्रकृति के संदर्भ में प्रस्तुत राजनीतिक–संस्थागत दृष्टिकोण की तुलना यदि राजनीतिक– आर्थिक दृष्टिकोण से की जाए तो मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या अब भी भारतीय राज्य को आर्थिक कारकों से अलग करके इसे स्वायत्त माना जाना चाहिए? बिलकुल नहीं। ऐसा इसलिए क्योंकि भारतीय राज्य ने अर्थव्यवस्था में अपनी सक्रीय भागीदारी की है और राज्य स्वयं इन आर्थिक कारकों के प्रभाव से अछूता नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि राज्य को कई अन्य कारक भी प्रभावित करते हैं जिससे राज्य की स्वायत्तता पर प्रश्न चिन्ह लगता है।

रुडॉल्फ और रुडॉल्फ ने भारतीय राज्य को आर्थिक और राजनीतिक कारकों के प्रभावस्वरुप बनी एक व्यवस्था के रुप में दर्शाया है। इनका मानना है कि भारतीय राज्य अगर एक ओर शक्तिशाली राज्य की भूमिका निभा रहा है तो दूसरी तरफ एक कमजोर राज्य की। उन्होंने ऐसा इसलिए कहा है क्योंकि भारतीय राज्य तीसरी दुनिया के अन्य राज्यों से कहीं ज्यादा शक्तिशाली है जिसका प्रमाण प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो, आर्थिक या सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र ही क्यों न हों। भारतीय राज्य की शक्ति का प्रमाण इसके इतिहास से मिलता है। भारतीय राज्य प्राचीन काल से ही एक शक्तिशाली राज्य के रुप में प्रतिष्ठित रहा है। मुगल काल और ब्रिटिश काल में तो राज्य ने एक महत्वपूर्ण और स्वायत्त भूमिका निभाई है, जिसके कारण इसे एक शक्तिशाली राज्य के रुप में देखा जाता है।

स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय राज्य की शक्ति का प्रमाण राज्य द्वारा सराहनीय प्रकार से इतनी विविधताओं को एक सूत्र में पिरो कर रखने की नीति से मिलता है। राज्य के कुछ महत्वपूर्ण मूल्यों ने भारतीय समाज को विखण्डित होने से बचाए रखा है। लोकतंत्र, समानता, बन्धुत्व, धर्मनिर्पेक्षता, समाजवाद और इस प्रकार के विभिन्न मूल्यों ने भारत में राजनीतिक संघर्ष को दबाए रखने, उभरने न देने और इनका समाधान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। निःसंदेह, भारतीय राज्य ने भारत के विभिन्न वर्गीय हितों को राज्य पर कभी हावी नहीं होने दिया।

परन्तु दूसरी तरफ, वर्तमान में भारतीय राज्य अपने सीमांत क्षेत्रों की मौलिक आर्थिक समस्याएं सुलझा पाने में असफल प्रतीत हो रहा है। वर्गीय, जातीय, भाषाई और क्षेत्रीय आधार पर कई प्रकार के संघर्षों को रोक पाने और इन असंतोषों को दूर कर पाने में असमर्थ दिख रहा है, जिसके कारण भारतीय राज्य एक कमजोर राज्य बनता चला जा रहा है। इसलिए रुडॉल्फ और रुडॉल्फ ने इसे एक **''कमजोर–शक्तिशाली''** राज्य कहा है। जिसका अर्थ यह है भारतीय राज्य कुछ मायनों में तो शक्तिशाली प्रतीत होता है और कुछ मामलों में वह असहाय हो जाता है, जो उसकी कमजोरी का प्रतीक है।

रुडॉल्फ और रुडॉल्फ का मानना है कि भारतीय राज्य ने अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में महत्व्पूर्ण योगदान दिया है। सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के माध्यम से एक तरफ अर्थव्यवस्था को मजबूती दी है, तो दूसरी तरफ कई प्रकार की मांगों को दबाकर राज्य के विकास को अपना पहला लक्ष्य भी बनाया है।

भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना स्वतंत्रता के तुरन्त बाद ही कर दी गई और इसके लिए आवश्यक संरचनाओं का निर्माण भी कर दिया गया। परन्तु आज भी राज्य सही अर्थों में लोकतांत्रिक मूल्यों को मूर्तरुप दे पाने में पूर्ण रुप से समर्थ नहीं हो पाया है। इस बिन्दु पर प्रकाश डालते हुए **गुनर मृदल** ने कहा है कि भारतीय राज्य ने आज तक भारत की जनता को इतनी शक्ति नहीं प्रदान की

कि वे लोकतंत्र का प्रयोग अपने हितों की रक्षा के लिए कर सकें। इनका यह मानना है कि भारतीय राज्य लोकतंत्र की स्थापना करने में असमर्थ रहा है। राज्य की इस असमर्थता के कारण उन्होंने भारतीय राज्य को एक **''मुलायम'' या ''नरम''** राज्य माना है। 'नरम राज्य' इस दृष्टि से कि भारतीय राज्य भले ही प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक शक्तिशाली रहा हो, परन्तु आज तक वह अपने राष्ट्रीय मूल्यों को पूर्णरुप से स्थापित नहीं कर पाया है। समानता, स्वतंत्रता, धर्मनिर्पेक्षता, समाजवाद और न्याय की जिन धारणाओं को लेकर भारत ने अपनी स्वतंत्र नीतियों का निर्माण किया था, आज वे अधूरे और खोखले प्रतीत हो रहे हैं। भारतीय राज्य वर्गीय और क्षेत्रीय आधारों को त्याग कर समानता पर आधारित समाज का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सका है और आज भी यह अपने स्थापित आदर्शों से कोसों दूर है।

भारतीय राज्य की जो विशिष्टता हमें देखने को मिलती है वह केवल शक्ति का प्रयोग करने की क्षमता है। भारत ने जिस प्रकार बाध्यकारी नीतियों को अपना कर स्वीकार्यता हासिल की है, उस पर **आशीष नंदी** ने यह कहा है कि भारतीय राज्य केवल बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग के बल पर शक्तिशाली बना हुआ है। आज भी इसकी सत्ता भारतीय नागरिकों के मस्तिष्क से नहीं बल्कि शक्ति प्रयोग पर निर्भर करती है। इनका यह मानना है कि यदि लोकतांत्रिक अर्थों में देखें तो भारतीय राज्य अपनी वैधता और सत्ता खो चुका है। आज अगर यह प्रश्न उठे कि भारतीय राज्य का चरित्र कैसा है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रुप से उठता है कि यह किसका राज्य है? यह चिन्हित करना पड़ जाता है कि यह किस वर्ग या वर्गों का राज्य है। भारतीय राज्य का वर्गीय आधार लोकतंत्र के मौलिक मूल्यों के विरुद्ध बन जाता है।

भारतीय राज्य के वर्गीय प्रकृति की ओर इंकित करते हुए **रजनी कोठारी** भी यही प्रश्न करते हैं, कि भारतीय राज्य का आधार निरन्तर सिकुड़ता जा रहा है। कल तक यह किसी वर्ग विशेष का राज्य था, परन्तु आज यह वर्ग भी और संकुचित होता जा रहा है। हम भारतीय राज्य की स्वायत्तता की जो अवधारणा ले कर चल रहे थे, उसके समक्ष आज यह प्रश्न उठता है कि क्या आज भी भारतीय राज्य वर्गों, क्षेत्रों और अन्य संकुचित विचारों के प्रभाव से स्वायत्त है? यदि आशावादी दृष्टिकोण से देखें तो यह भी प्रश्न मन में उठता है कि क्या वर्तमान भारतीय राज्य किसी वर्गीय आधार को त्याग कर राज्य के विकास में एक साकारात्मक भूमिका निभा पाने में सक्षम है? क्या इसकी निर्पेक्षता, सत्ता और वैधता आज भी बरकरार हैं?

माधव गडगिल ने भारतीय राज्य की प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा है कि भारत में राजनीतिक दल, नौकरशाही और पूंजीपतियों के मध्य एक तालमेल बन गया है। राजनीतिक दल पूंजीपतियों को नीतियों के माध्यम से आर्थिक लाभ और छूट प्रदान करते हैं। नौकरशाही के माध्यम से इन नीतियों का क्रियान्वयन किया जाता है और पूंजीपति वर्ग राज्य द्वारा प्रदत्त इन छूटों का लाभ उठा कर निरन्तर सशक्त होता जा रहा है। आज तो स्थिति यह है कि पूंजीपति वर्ग राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने लगे हैं। गडगिल ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि भारतीय राज्य इस **त्रिभुज** में फंस कर रह गया है।

उपरोक्त से यह प्रतीत होता है कि भारतीय राज्य के संदर्भ में उदारवादियों ने राज्य की स्वायत्तता को अपना केन्द्रबिन्दु माना है, जोकि धीरे–धीरे समाप्त होती जा रही है। राजनीतिक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर उदारवादी विचारक यह पाते हैं कि भारतीय राज्य पूंजीपति, राजनेता और नौकरशाही के मध्य फंसा

राज्य बन कर रह गया है, जो कि उदारवादी दृष्टिकोण में गलत है। राज्य का यह कार्य होना चाहिए कि वह विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक हितों के मध्य सामंजस्य बनाकर अपनी स्वायत्त और निष्पक्ष छवि को बनाए रखे, जिससे जनता का राज्य पर विश्वास और भी मजबूत हो सके और राज्य का विकास भी संभव हो सके।

बोध प्रश्न 2

नोट– नीचे दी गई जगह में अपना उत्तर लिखिए और इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से उनका मेल कीजिए।

1. राज्य की प्रकृति के अध्ययन के क्रम में राजनीतिक–आर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण राज्य का अध्ययन किस संदर्भ में करने पर बल देता है?

2. राजनीतिक–आर्थ''ास्त्र दृष्टिकोण को अपनाने वाले किन्हीं दो विचारकों का नाम बताइए।

28.4 भारतीय राज्य का चरित्र

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राज्य के चरित्र का मूल्यांकन एक बहुत ही जटिल विषय है क्योंकि विभिन्न विचारकों में इसे लेकर मतभेद मिलते हैं। कोई भी एक विचार न तो अपने में पूर्ण रुप से भारतीय राज्य की प्रकृति का वर्णन करता है और न ही किसी विचार को असत्य या गलत कह कर नकारा जा सकता है। परन्तु इन विचारों में कुछ मौलिक समानताएं हैं, जिनके आधार पर भारतीय राज्य की प्रकृति को समझा जा सकता है।

पहले स्थान पर, भारतीय राज्य एक शक्तिशाली राज्य है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक अपनी साख बनाए हुए है। भारत की एकता और अखण्डता इस बात का प्रमाण है कि भारतीय राज्य ने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य विविधताओं को एक सूत्र में पिरोते हुए भारत को एक शक्तिशाली राज्य के रुप में स्थापित किया है।

भूमण्डलीकरण के दौर में जैसे–जैसे औद्योगीकरण, उदारवाद और बाज़ारवाद का प्रभाव बढ़ा, राज्य की भूमिका अपेक्षाकृत कम हो गई है। राज्य जिस प्रकार पहले सभी विरोधों और विद्रोहों को नियंत्रित कर लेने में सफल हो जाता था, वर्तमान में वह ऐसा कर पाने में पूर्णरुप से सक्षम नहीं हो पा रहा है। इस कमज़ोरी का मुख्य कारण यह है कि राज्य आज आर्थिक कारकों के बढ़ते प्रभाव के समक्ष या तो घुटने टेकने लगा है या फिर प्रभावशाली वर्गों के हाथों की कटपुतली बनकर रह गया है। दोनों ही दशा इस बात की ओर इंगित करते हैं कि भारतीय राज्य की छवि पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

जहाँ तक प्रश्न है भारतीय राज्य के महत्व में कमी आने की, तो इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि यह एक वास्तविकता है। परन्तु भारतीय राज्य इतना भी कमजोर नहीं हुआ है कि वह अपनी एकता और अखण्डता को सुरक्षित न रख सके।

भारत में अनेक प्रकार की समस्याएं सामाजिक आंदोलनों के रुप में उभर रहीं हैं और कभी–कभी तो यह इतना भयानक रुप ले लेतीं हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि राज्य बिलकुल असहाय हो गया है। परन्तु इतने विद्रोहों और विरोधों के बाद भी राज्य ने अपनी दमनकारी नीतियों और बल प्रयोग के माध्यम से राज्य के हितों को बचाने में निश्चित तौर पर सफलता हासिल की है। इसे किसी भी दशा में राज्य के कमजोर पडने का संकेत नहीं माना जा सकता। हाँ, इतना जरुर है कि राज्य का वर्गीय आधार अब सबके सामने आने लगा है। ऐसा प्रतीत होने लगा है कि राज्य केवल एक वर्ग विशेष के हितों को ध्यान में रखकर अपनी नीतियों और कार्यक्रमों का निर्माण करने लगी है। यह विशेष वर्ग है पूंजीपतियों का वर्ग है जो राज्य को अपने अभिकर्ता के रुप में प्रयोग कर रहे हैं। (जैसा कि मार्क्सवादी चिन्तन में कहा गया है।)

परन्तु इससे हमें हताश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संस्थात्मक रुप से भारतीय राज्य ने अपने लोकतांत्रिक मूल्यों को जीवित रखने की जो व्यवस्था की है, उससे राज्य कभी किसी एक वर्ग विशेष तक सिमट कर नहीं रह सकता। भारतीय लोकतांत्रिक ढ़ांचा इतना मजबूत है कि वह अपनी जनता के हितों कि रक्षा करने के लिए पर्याप्त है। राज्य चाहे किसी वर्ग विशेष तक सिमटने का प्रयास करे या कोई वर्ग राज्य के प्रभाव को नियंत्रित करने का प्रयास करे, भारतीय लोकतांत्रिक ढ़ांचा राज्य को इस बात पर विवश कर देता है कि राज्य जन हित की अनदेखी न कर सके।

28.5 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय राज्य की प्रकृति के सदर्भ में उदारवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। उपरोक्त विवेचना में हमने उदारवाद के अंतर्गत दो अलग आयामों को देखा है। एक आयाम में भारतीय राज्य की प्रकृति का वर्णन संस्थागत आधार पर किया और दूसरे आयाम में राजनीतिक अर्थशास्त्र के आधार पर किया गया है। संस्थागत दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए संस्थाओं का अध्ययन किया गया तथा विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला की संस्थात्मक आधार पर भारतीय राज्य बहुत शक्तिशाली है क्यों कि जिन लोकतांत्रिक संस्थाओं या ढ़ाँचों का निर्माण किया गया था वे आज भी भलीभांति कार्य कर रहे हैं जिससे भारतीय राज्य निरन्तर विकास कर रहा है। दूसरे आयाम में राजनीतिक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जो इस बात की ओर इंगित करता है कि भारतीय राज्य के समक्ष आर्थिक कारकों से प्रभावित होने के कारण अपनी स्वायत्तता को बचाए रखना एक चुनौती बनता जा रहा है। परन्तु फिर भी भारतीय राज्य ने अपने लोकतांत्रिक मूल्यों को जीवित रखते हुए अपनी स्वायत्तता से कोई समझौता नहीं किया है और सफलतापूर्वक अपनी जनता के हितों की रक्षा करने में सक्षम है।

28.6 शब्दावली

उदारवाद– यह एक ऐसी विचारधारा है जो मनुष्य को केन्द्र में रखकर इसे एक विवेकशील प्राणी मानती है और इसका यह विश्वास है कि मनुष्य अपनी योग्यता के आधार पर असीमित विकास कर सकता है। उसे केवल स्वतंत्र किए जाने की आवश्यकता है। यह विचारधारा राज्य के न्यून्तम हस्तक्षेप पर बल देती है और राज्य का कार्य केवल व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा मात्र

तक सीमित रखती है तथा विशेष रुप से आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की निंदा करती है।

बहुलवाद– बहुलवाद उदारवाद की ही एक शाखा है जो राज्य को कोई विशेष दर्जा देने का विरोध करती है। इस विचारधारा का यह मानना है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए विभिन्न संस्थाओं का निर्माण किया है और राज्य इनमें से एक संस्था मात्र है। इसलिए राज्य को विशेष महत्व न देकर सम्प्रभुता का विभाजन किए जाने की आवश्यकता है।

संस्थागत उपागम– संस्थागत उपागम एक परम्परागत उपागम है जो राजनीति के अध्ययन के लिए संस्थाओं का अध्ययन करने पर बल देता है। इसका यह मानना है कि किसी भी राज्य की राजनीति को समझने के लिए उस राज्य में स्थापित संस्थाओं का अध्ययन करना चाहिए।

व्यवहारवादी उपागम– यह राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक आधुनिक उपागम है जिसकी शुरुआत डेविड इस्टन ने की थी। इस उपागम के अंतर्गत मानव व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया जाता है। इसमें केवल संस्थाओं का नहीं बल्कि व्यवहारिक राजनीति के अध्ययन पर प्रकाश डाला जाता है।

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नारंग, ए0एस0, ''इण्डियन गॉवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स'', गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000

ब्रास, पॉल0आर0, ''द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेंडेन्स'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2001

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

कोठारी, रजनी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 1970

कोहली, अतुल, ''द स्टेट एण्ड पॉवर्टी इन इण्डिया– द पॉलिटिक्स ऑफ रिफार्म'', ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 1987

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. राजनीतिक–संस्थागत दृष्टिकोण तथा राजनीतिक– अर्थशास्त्र दृष्टिकोण
2. संस्थाओं के अध्ययन पर।

बोध प्रश्न 2

1. राज्य का अध्ययन आर्थिक कारकों के संदर्भ में करने पर बल देता है।
2. सुसैन रुडॉल्फ तथा लिलयॉर्ड रुडॉल्फ और आशीष नंदी।